नैतिकता का गुरुत्वाकर्षण

नैतिकता का

गुरुत्त्वाकर्षण

मुनि नथमल

आदर्श साहित्य संघ

प्रकाशक :

कमलेश चतुर्वेदी
प्रबन्धक
आदर्श साहित्य संघ
चुरू, राजस्थान

मूल्य : २.००

प्रथम संस्करण : १९६७

मुद्रक :

श्यामकुमार गर्ग
राष्ट्रभाषा प्रिन्टर्स
दिल्ली

प्राथमिकी

नैतिकता आज के युग का सर्वाधिक चर्चित शब्द है। नैतिकता क्या है ? इसकी स्पष्टता जितनी हुई है, उतनी ही अस्पष्टता बढ़ी है। वर्तमान विधि-विधानों ने यह प्रमाणित कर दिया है कि पुरानी समाज-व्यवस्था के संस्कारों में पलने वाला कोई भी आदमी नैतिक जीवन नहीं जी सकता। नैतिकता हृदय की पवित्रता का गुण है, आन्तरिक स्थिति है। अध्यात्म-विमुखता ने आन्तरिक पवित्रता का आसन प्रकम्पित कर दिया है। सामाजिक विवशता ने नैतिकता को असंभव सिद्ध कर दिया है। इस प्रकार नैतिकता का चतुर्मुखी वातावरण प्रताड़ित व परिस्थिति-परतन्त्र है। किन्तु क्या कोई भी व्यक्ति और समाज नैतिक मर्यादाओं से मुक्त होकर स्थिर विकास व सुस्थिर सम्पदा का वरण कर सकता है ? क्या नैतिक-विकास के बिना सामाजिक संघर्ष और छीना-झपटी की परिसमाप्ति की जा सकती है ? क्या नैतिकतापूर्ण दायित्व का निर्वाह किए बिना समाज प्रगति की ओर अग्रसर हो सकता है ? जैसे ही नैतिकता की अवहेलना होती है, वैसे ही ये अनुत्तरित प्रश्न सामने उपस्थित हो जाते हैं।

नैतिकता सामाजिक सम्बन्धों का विज्ञान है। वह समाज की प्रेरणा से प्रेरित होकर मात्र उपयोगिता रह जाती है। उसकी फल-भावना भी उपयोगिता तक सीमित हो जाती है और अन्त में वह अनैतिकता के अंचल

में चली जाती है।

वास्तविक नैतिकता वही है, जो अध्यात्म से प्रेरित, प्रभावित या अनुस्यूत हो। उसकी आधार-भित्ति उपयोगिता नहीं होगी, किन्तु पवित्रता होती है। उसकी फल-भावना आत्मिक सुखानुभूति होती है। वह प्रतिकूल वातावरण के उपरान्त भी स्वाभाविक हो जाती है।

इस तथ्य को स्वीकार करने में हमें कोई संकोच नहीं कि आज धार्मिक आस्था होते हुए भी लोग नैतिकता के प्रति आस्थावान नहीं हैं। इसीलिए उसके प्रति हर व्यक्ति के मन में सन्देह का भाव बना हुआ है। कुछ लोग कहते हैं, पुराने युग की नैतिकता आज नहीं चल सकती। नये समाज की नैतिक मान्यताएं भी नहीं होंगी। इन प्रश्नों के तथ्यांशों को स्वीकार करते हुए भी मैं इस बात को अस्वीकार नहीं कर सकता कि नैतिकता की मूलभूत धारणाएं स्थायी हैं।

प्रस्तुत पुस्तक के निबंधों में मैंने इन प्रश्नों पर कुछ विचार किया है। आचार्यश्री तुलसी ने अणुव्रत के माध्यम से नैतिकता के प्रश्न को नव-प्राण दिया है। उसकी प्रतिष्ठा में इस पुस्तक का भी अपना योग होगा। मुनि श्रीचन्द्रजी तथा मुनि दुलहराजजी ने इनका सम्पादन कर अपने समय और शक्ति के कुछ बिन्दु इसके साथ जोड़े हैं। नैतिकता के गुरुत्वाकर्षण की कोई भी विकासशील तत्त्व अवहेलना नहीं कर सकता। इस तथ्य की पृष्ठभूमि में यही अचल विश्वास काम करता रहा है।

—मुनि नथमल

जोधपुर
३१ मार्च, १९६७

अनुक्रमणिका

नैतिकता का त्रिकोण

एक हमारा अपना जगत् है, जिसकी सीमाओं को हम व्यक्तिगत जीवन कहते हैं। वे सीमाएँ हैं शरीर, इन्द्रिय और मन। इन सीमाओं में एक चेतना है, जो आज भी रहस्यपूर्ण है। एक हमारा बाहरी जगत् है, जिसके साथ हम अपना सम्पर्क बनाए रखते हैं। सम्पर्क के माध्यम हैं शरीर, इन्द्रिय, मन और वाणी।

जब हमारी इन्द्रियाँ और मन अपने जगत् (या अन्तर्-जगत्) में लीन रहते हैं, बाहरी सम्बन्धों या सम्पर्कों से प्रभावित नहीं होते, बाहर की ओर नहीं दौड़ते, वह स्थिति अध्यात्म है। परिभाषा की शब्दावली में हम यों कह सकते हैं—चेतना जगत् की बाह्य जगत् से असम्बन्ध की जो स्थिति है, वह अध्यात्म है। चेतना जगत् का बाह्य जगत् के साथ जो सम्पर्क स्थापित होता है, वह सामुदायिक जीवन है। उसका आधार सम्बन्ध है। सम्बन्ध की शुद्धि का नाम नैतिकता है।

नैतिकता का अर्थ है सम्बन्ध-शुद्धि का विज्ञान। सम्बन्ध के वर्गीकृत रूप तीन हैं जो सम्बन्धनीय तत्त्वों के आधार पर निश्चित किए जा सकते हैं। सम्बन्धनीय तत्त्व :

१. चेतना-जगत्, २. भौतिक-जगत्, ३. भावनात्मक-जगत्।

व्यक्ति और चेतना-जगत्

व्यक्ति और परिवार, व्यक्ति और जाति, व्यक्ति और समाज, व्यक्ति और राष्ट्र, व्यक्ति और जगत्।

व्यक्ति और भौतिक-जगत्

व्यक्ति और सम्पदा।

व्यक्ति और भावनात्मक-जगत्

व्यक्ति और शासन, व्यक्ति और स्वतन्त्रता।

शुद्धि की कसौटी के बारे में मतैक्य नहीं है, फिर भी हर विचारक

उसे प्रस्तुत करता है। हमारे मतानुसार सम्बन्ध-शुद्धि की कसौटी है—ऋजुता, मृदुता, शान्ति और त्याग से समन्वित मनोवृत्ति। हर व्यक्ति में चार प्रकार की वृत्तियाँ होती हैं :

१. संग्रह, २. आवेश, ३. गर्व (बड़ा मानना), ४. माया (छिपाना)।

चार वृत्तियाँ और होती हैं। वे उक्त चार प्रवृत्तियों की प्रतिपक्षी हैं :

१. त्याग या विसर्जन, २. शान्ति, ३. समानता या मृदुता, ४. ऋजुता या स्पष्टता।

ये दोनों प्रकार की प्रवृत्तियाँ वैयक्तिक हैं इसलिए इन्हें अनैतिक और नैतिक नहीं कहा जा सकता। इन्हें आध्यात्मिक (या वैयक्तिक) दोष और गुण कहा जा सकता है। इन वृत्तियों के परिणाम समाज में संक्रान्त होते हैं, उन्हें अनैतिक और नैतिक कहा जा सकता है।

पहले प्रकार की वृत्तियों के परिणाम

१. संग्रह की मनोवृत्ति के परिणाम—शोषण, अप्रामाणिकता, निरपेक्ष-व्यवहार, क्रूर-व्यवहार, विश्वासघात।

२. आवेश की मनोवृत्ति के परिणाम—गाली-गलौज, युद्ध, आक्रमण, प्रहार, हत्या।

३. गर्व (अपने को बड़ा मानने) की मनोवृत्ति के परिणाम—घृणा, अमैत्रीपूर्ण व्यवहार, क्रूर-व्यवहार।

४. माया (छिपाने) की मनोवृत्ति के परिणाम—अविश्वास, अमैत्रीपूर्ण व्यवहार।

दूसरे प्रकार की वृत्तियों के परिणाम

१. त्याग (विसर्जन) की मनोवृत्ति के परिणाम—प्रामाणिकता, सापेक्ष व्यवहार, अशोषण।

२. शान्ति की मनोवृत्ति के परिणाम—वाक्-संयम, अनाक्रमण, समझौता, समन्वय।

३. समानता की मनोवृत्ति के परिणाम—सापेक्ष-व्यवहार, प्रेम, मृदु व्यवहार।

४. ऋजुता की मनोवृत्ति के परिणाम—मैत्रीपूर्ण व्यवहार, विश्वास।

मैं सोचता हूं कि नैतिक धारणाओं को सामाजिक नियमों के साथ जोड़ने से वे सामयिक या उपयोगिता-निर्भर बन जाती है, इसलिए उनका योग वैयक्तिक वृत्तियों के साथ होना चाहिए।

नैतिकता के प्रेरणा-स्रोत

अनैतिकता का मूल 'स्व' की संकुचित सीमा है। व्यक्ति जिसे अपना मानता है, उसका हित चाहता है और जिसे पराया मानता है, उसके हित की अपेक्षा नहीं करता। एक व्यक्ति शोषण करता है, पर वह उसी का करता है, जिसे अपना नहीं मानता। सामान्य स्थिति में कहा जा सकता है कि अनैतिकता का आधार परत्व का विस्तार है। इसका अर्थ है 'स्व' या 'ममत्व' कीं सीमा का सकोचन। इसमें कोई संदेह नही कि व्यक्तिगत दिलचस्पी का विसर्जन बहुत जटिल समस्या है। पर यह भी बहुत बड़ा सत्य है कि उसका एक सीमा तक विसर्जन किए बिना अपेक्षित नैतिकता विकसित नही होती।

मेरे विनम्र अभिमत में नैतिकता का सर्वोत्तम आधार आध्यात्मिकता है। 'अनैतिकता से अपनी आत्मा या अपने व्यक्तित्व का हनन होता है', इस आस्था की भूमिका पर जो नैतिकता का प्रासाद खड़ा होता है, वह बाह्य स्थिति से अप्रभावित होता है। मैं नहीं कह सकता इस स्थिति तक कितने लोग पहुच सकते है पर यह कह सकता हूँ कि जहाँ पहुंचना है, वह बिन्दु यही है। कुछ लोगों के सामने मैं इस आधार की चर्चा कर चुका हूँ। पर वे मेरे अभिमत से सहमत नहीं हुए। उनका मानना है कि यह आधार सूक्ष्म और अभौतिक है। हमें नैतिकता का कोई स्थूल और भौतिक आधार चाहिए, जिसे हर आदमी देख सके। उनके मतानुसार वह आधार है राष्ट्रीयता।

यह सही है कि व्यक्ति का 'स्व' राष्ट्र की सीमा तक विस्तार पाता है तब वह उसके प्रति अनैतिक व्यवहार करना नहीं चाहता। मेरे व्यक्तिगत जीवन, परिवार, जाति या राष्ट्र को हानि होगी—इस प्रकार 'स्व' या 'ममत्व' जहाँ समान रूप से सघन होता है, वहाँ वह अनैतिकता का नियामक बनता है पर इसमें खतरा छिपा हुआ है। परिवार के प्रति ममत्व का सघन् रूप जैसे जाति या राष्ट्र के प्रति बरती जाने वाली अनैतिकता का

नियमन नहीं करता वैसे ही राष्ट्र के प्रति बरती जाने वाली अनैतिकता का नियामक नहीं होता। मुझे लगता है कि राष्ट्रीय अनैतिकता की अपेक्षा अन्तर्राष्ट्रीय अनैतिकता कहीं अधिक है। जिन राष्ट्रों में व्यावहारिक सचाई है, प्रामाणिकता है, वे भी अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सत्य-निष्ठ और प्रामाणिक नहीं हैं।

मैं इस तथ्य की ओर आपका ध्यान खींचकर यह समझाने का प्रयत्न नहीं कर रहा हूँ कि राष्ट्रीयता नैतिकता का आधार नहीं है। मैं यह कहना चाहता हूँ कि राष्ट्रीयता की तुलना में मानवता नैतिकता का अधिक सुदृढ़ आधार है। हर मनुष्य दूसरे मनुष्य को अपने ही समान समझे और उसके प्रति अन्याय करने को अपने प्रतिअन्याय करना समझे तो अनैतिकता कहाँ से आएगी और कैसे टिकेगी ? एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के प्रति अनैतिक व्यवहार कर यह सोचे कि मेरे प्रति कोई अनैतिक व्यवहार नहीं करेगा, वह आत्म-भ्रान्ति में रह रहा है। द्वार खुला है तो उसमें से कोई भी आ सकता है। जो मानव किसी एक मानव के साथ अन्याय कर रहा है, वह सब मानवों के साथ अन्याय कर रहा है अर्थात् वह समूची मानवता के प्रति अन्याय कर रहा है। इस मान्यता का विकास होने पर अनैतिकता की सीमा अपने-आप सिमट जाती है।

जीवन का सामुदायिक प्रकार भी नैतिकता की आधारभूमि है। व्यक्ति अकेला ही होता तो उसके लिए अनैतिकता या नैतिकता की कोई कल्पना ही नहीं पर जब वह सामाजिक जीवन जीता है तब उसके लिए यह कल्पना स्वयं महत्त्वपूर्ण हो जाती है। वह समाज स्वस्थ समाज नहीं होता जहाँ हर व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को हड़पने की चेष्टा में हो, जहाँ छीना-झपटी का बाजार गर्म हो और एक-दूसरे को धोखा देने की धुन में हो। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की मर्यादा और अधिकार को समझकर चले, वही समाज स्वस्थ समाज होता है।

हर व्यक्ति चाहता है कि मेरा जीवन शान्त और सुखी हो। सुखा-नुभूति की पहली शर्त है शान्ति। अग्नि के बिना धुआँ नहीं हो सकता, वैसे ही अशान्ति के बिना दुःख नहीं हो सकता। पहले मानसिक अशान्ति होती है, फिर दुःख की अनुभूति। मन शान्त हो तो दुःख आस-पास घूम सकता है

पर वह उस व्यक्ति पर अपना प्रभाव नहीं डाल सकता, अर्थात् उसे दुःख की अनुभूति नहीं हो सकती। जिसका मन अनैतिक चिन्तन से मुक्त रहता है, वही शान्त हो सकता है। जिसके मन में अनैतिक कल्पना या चिन्तन ही नहीं वह अनैतिक प्रवृत्ति कैसे करेगा ? मैं यह देखकर स्तब्ध रह जाता हूँ कि मनुष्य अनैतिक प्रवृत्तियों से अपने मन को अशान्त बनाकर अपने लिए दुःख का द्वार खोल बैठे हैं। वे जिन साधनों की उपलब्धि के लिए अनैतिक आचरण करते है, वे ही साधन उन्हें अधिक अशान्त और दुःखी किए हुए है। प्राण-रक्षा के लिए श्वास जितना अपेक्षित है, उतना ही शान्ति और सुख की रक्षा के लिए नैतिक आचरण अपेक्षित है। जीवन का पहला सुख है स्वास्थ्य। अस्वस्थ आदमी शेष सारी सुखानुभूतियों से वंचित रह जाता है। अनैतिक आचरण का स्वास्थ्य पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है। आप प्रथम वार मेरे इस विचार से सहमत नहीं होंगे कि अनैतिकता स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव डालती है। आपका पहला तर्क यह होगा कि वह यदि स्वास्थ्य को प्रभावित करती है तो अनैतिक उपायों से धन कमाने वाले लोग इतने स्वस्थ कैसे होते ? यह विषय अभी प्रयोग और परीक्षा के क्षेत्र में नहीं आया है किन्तु जिस दिन आएगा उस दिन आप आश्चर्य के साथ यह पढ़ेंगे कि पचास प्रतिशत बीमारियों का कारण मनुष्य की अनैतिक प्रवृत्तियां हैं। मानसिक उद्विग्नता, भय और चिन्ता—ये बीमारियों के मूल कीटाणु है। कोई भी अनैतिकता ऐसी नही है जो इन कीटाणुओं से मुक्त हो। इसलिए इस स्थापना में कोई त्रुटि नही देख पा रहा हूँ कि स्वस्थ जीवन जीने के लिए नैतिकता आवश्यक है।

इस परिचर्चा में नैतिकता के छह प्रेरणा-स्रोत हमारे सामने प्रस्तुत हैं :

१. आध्यात्मिकता, २. राष्ट्रीयता, ३. मानवता, ४. सामुदायिक जीवन, ५. शान्त-सुखी जीवन, ६. स्वस्थ जीवन।

नैतिकता का सूत्र

इन्द्रियों की तृप्ति पदार्थ मे होती है और पदार्थ धन से मिलते है। इसलिए मनुष्य की सहज प्रेरणा है धन अर्जित करना। वह धन का अर्जन कैसे करे और कैसे न करे, यह सहज प्रेरणा नहीं है। यह सैद्धान्तिक पक्ष है जो मानवीय विवेक द्वारा निश्चित होता है। इसके प्रयोग की दो धाराएँ

बन जाती हैं—आत्मानुशासन और राजकीय शासन।

१. नैतिकता की सुरक्षा के लिए ऐन्द्रियिक तृप्ति का त्याग कर दो, धन का अर्जन मत करो—इस सूत्र के आधार पर नैतिकता को विकसित नहीं किया जा सकता।

२. इन्द्रियों की तृप्ति, पदार्थ की प्राप्ति और धन का अर्जन करते हुए भी नैतिक-विकास किया जा सकता है—इस सूत्र के आधार पर नैतिकता का विकास किया जा सकता है।

३. नैतिकता की सुरक्षा करते हुए जो आदमी धन का अर्जन करता है, वह इन्द्रिय की तृप्ति या सुखानुभूति अधिक अच्छे ढंग से कर सकता है—यह सूत्र नैतिक विकास को सर्वोत्तम भूमिका प्रदान करता है।

अनैतिक मनुष्य इन्द्रिय-तृप्ति या सुख-सुविधा की दृष्टि से घाटे में रहता है—ऐसी अनुभूति होने पर कोई मनुष्य क्यों अनैतिक बनेगा? आज अनुभूति यह है कि नैतिक मनुष्य सुख-सुविधा की दृष्टि से घाटे में रहता है इसलिए नैतिकता के प्रति मनुष्य में सहज आकर्षण नहीं है। इन्द्रिय-तृप्ति या सुख-सुविधा के प्रति विराग उत्पन्न कर हम जनता को नैतिक बनाना चाहें तो यह सम्भव नहीं होगा।

इस प्रक्रिया से जनता नैतिक नहीं बनेगी, कुछेक लोग नैतिक बन सकते हैं। नैतिकता का सामूहिक विकास करने के लिए यह आवश्यक है कि तीसरे सूत्र को आधार मानकर अनुसन्धान किए जाएँ और उनकी उपलब्धियों का जन-साधारण में प्रचार किया जाए और प्रशिक्षण दिया जाए।

नैतिकता के बाधक और साधक तत्त्व

नैतिकता की चर्चा करते समय उसके बाधक और साधक तत्त्वों की चर्चा करना भी आवश्यक है। हम कितना ही क्यों न चाहें और कितना ही प्रयास क्यों न करें किन्तु तब तक नैतिकता की पुनःस्थापना नहीं हो सकती जब तक उसके बाधक-तत्त्व उन्मूलित और साधक-तत्त्व प्रतिष्ठित न हों। नैतिकता के बाधक तत्त्व ये हैं :

१. प्रदीप्त स्वार्थ, २. बुरी आदतें, ३. मिथ्या मान्यता, ४. विलास-भोग की प्रचुरता, ५. प्रदीप्त आकांक्षा, ६. अभाव।

इनमें प्रथम चार मानसिक बाधाएं हैं। मिथ्या मान्यता दोषपूर्ण सामा-

जिक मूल्यों पर आधारित और अभाव-परिस्थितिजनित बाधा है। नैति-कता के साधक तत्त्व ये हैं :

१. परमार्थ, २. संयत जीवन, ३. शुद्ध जीवन, ४. सन्तुष्ट जीवन, ५. जीवन-निर्वाह के साधनों की सुलभता, ६. सही मान्यता।

नैतिकता के बाधक-तत्त्वों में प्रथम पांच के साथ अनैतिकता की व्याप्ति है—जहां अनैतिकता है, वहाँ ये हैं और जहां ये हैं वहाँ अनैतिकता है। छठे के साथ अनैतिकता की व्याप्ति नहीं है। वे उसके हेतु बन सकते हैं। ऐसे व्यक्ति भी आपको मिलेंगे जो अभावग्रस्त होने पर भी अनैतिकता की ओर नहीं झांकते और ऐसे व्यक्ति भी कम नहीं हैं जो सम्पन्न होने पर भी नैतिक नहीं हैं।

नैतिकता के साधक-तत्त्वों की चर्चा करते समय जो पहला प्रश्न उप-स्थित होगा वह यह है कि स्वार्थ का प्रतिपक्ष परार्थ है, तब परमार्थ कैसे? किन्तु क्या हम परार्थ को विरोधाभास से मुक्त कर सकेंगे? ऐसे अनेक परार्थ-वादी लोग हैं जो एक हाथ में परार्थ का झण्डा लिए हुए हैं और दूसरे हाथ में शोषण की कलम थामे हुए हैं। जो मनुष्य की सेवा करना चाहे वह मनुष्य का शोषण करे, यह सम्भव नहीं, पर परार्थवाद की विरोधाभास-पूर्ण धारा में अमुक मनुष्य की सेवा और अमुक मनुष्य का शोषण सम्भव हो रहा है। परार्थवादी अनैतिकता और आत्म-पतन को एक साथ देखता है, इसलिए उसकी नैतिकता के साथ व्याप्ति है।

नैतिकता के साधक-तत्त्वों में प्रथम पाँच तत्त्व नैतिकता के साथ व्याप्त हैं—जहाँ नैतिकता है, वहाँ ये हैं और जहाँ ये हैं वहाँ नैतिकता है। अन्तिम तत्त्व नैतिकता का सम्भावित हेतु है।

●

नैतिकता का आधार

मनुष्य और मानस दोनों भिन्न, साथ ही अभिन्न भी हैं। मनुष्य इसीलिए महिमाशाली है कि उसका मानस विकासशील है। उसमें चिन्तन है, तर्कणा है, ऊहापोह और गवेषणा है। मन ने जो उपलब्ध किया, उसमें अनुपलब्ध अनन्त है, फिर भी उसका रहस्योद्‌घाटन मन ने बड़ी पटुता से किया है। वह केवल पौद्‌गलिक जगत् की शल्य-चिकित्सा में ही कुशल नहीं है; आन्तरिक मर्मोद्‌घाटन भी उसने बहुत प्रभावक पद्धति से किए हैं। अध्यात्म उन्हीं में से एक है। नैतिकता उसी का प्रतिबिम्ब है।

हमें जो ज्ञात है, वह सत् है। जो सत् है, वह अनादि-अनन्त है। जो है, वह था भी और होगा भी। जो नहीं था, वह होगा भी नहीं और है भी नहीं। इस तर्क दृष्टि से हम किसी भी सत् को शाश्वत मान लेते हैं। पर जो है, वह इसी रूप में था और इसी रूप में होगा, यह आवश्यक नहीं। इस रूप-परिवर्तन की दृष्टि से हम किसी भी सत् को सादिसान्त मान लेते हैं। निष्कर्ष की भाषा में इतना होता है कि सत् शाश्वत है, रूप अशाश्वत। शाश्वत सत् अभिव्यक्त नहीं होता। शाश्वत और अशाश्वत दोनों अविभक्त होते हैं, तब सत् व्यक्त होता है। इसी दार्शनिक भित्ति पर हम अध्यात्म और नैतिकता का विमर्श करना चाहते हैं। अध्यात्म सत् है और शाश्वत है, नैतिकता उसका रूप है, अशाश्वत है। अध्यात्म स्वयंभू है, नैतिकता परस्पराश्रित है। कैम्ब्रिज प्लेटोनिट्स का नेता कडवर्थ नैतिकता के अस्तित्व को वस्तुगत मानता था। उसके अभिमत में नैतिक विभक्तियां पदार्थ के आन्तरिक गुणों की सूचक हैं। इस मान्यता में कुछ तथ्य भी है और कुछ चिन्त्य भी। चिन्त्य इसलिए कि कुछ नैतिक विभक्तियां मान्यता-निर्भर भी होती हैं। अध्यात्म से प्रतिफलित नैतिकता निश्चित ही सहज होती है। पर नैतिकता का विचार, जो बौद्धिक होता है, वह असहज भी होता है। निर्णायक बुद्धिवाद के क्षेत्र में निर्णायक ज्ञान प्रमाण होता है,

किन्तु अन्तर-जगत् में सम्यक्-ज्ञान प्रमाण होता है। निर्णायक शक्ति ज्ञान में होती है, पर सम्यग्-शक्ति नहीं भी होती। प्रभावित दशा में जितना निर्णय होता है, वह सम्यक् ही नहीं होता, अप्रभावित दशा में जो ज्ञान होता है, वह सम्यक् ही होता है। हमारा अन्तर्-जगत् मोहाणुओं से प्रभावित है। इसलिए नैतिकता का मूल स्रोत, यद्यपि वह एक है, विभक्त हो जाता है। एक व्यक्ति का निर्णय दूसरे व्यक्ति के निर्णय से भिन्न हो जाता है। इसी प्रकार विभिन्न देश और काल के निर्णय भी भिन्न होते हैं। इस विभाजन का हेतु नैतिकता का मूल स्रोत नहीं, किन्तु निर्णायक बुद्धि का तारतम्य है। अज्ञान, ज्ञान, मोह और निर्मोह—ये चार रेखाएं हैं। ज्ञान का आवरण ही अज्ञान होता है। वह टूटता है, ज्ञान व्यक्त हो जाता है। वीतराग या समभाव का बाधक परमाणु-वलय ही मोह होता है। वह विलीन होता है, चैतन्य में वीतरागता व्यक्त हो जाती है। मनुष्य का चेतन सहज में ज्ञानी है और वीतराग है। जहां ज्ञान भी है और वीतरागता भी है, वहां अनैतिकता होती ही नहीं। मनुष्य में अनैतिकता होती है, इसका अर्थ यह है कि उसका ज्ञान आवृत है और दृष्टि मूढ़ है। नैतिकता अध्यात्म का सहज प्रतिबिम्ब है और अनैतिकता उसका अस्वाभाविक रूप है। जो सहज है, वह असहज लग रहा है, शिक्षण सापेक्ष हो रहा है, और जो असहज है वह सहज लग रहा है, यही है सम्यग्-ज्ञान का अभाव।

अध्यात्म एक सचाई है, पर जब तक हमारा शरीर आत्मा से प्रधान है, तब तक व्यवहार प्रमुख होता है और सचाई गौण। और इसी परिस्थिति में हमारे सामने नैतिकता का प्रश्न ज्वलन्त होता है, मनुष्य में अच्छी और बुरी दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों के बीज संचित रहते हैं। वे सामग्री का योग पाए बिना अंकुरित नहीं होते। अध्यात्म-दर्शन यही तो है कि मनुष्य अन्तर्दर्शन ले, तो वह उस तत्त्व को पा सकता है, जिसकी उसे कल्पना तक नहीं है। आनन्द और मुख, गुरुत्व और प्रतिष्ठा, तृप्ति और परितोष, जो भी प्राप्य है, वह सब अपने अन्तर में है। किन्तु वह सब अन्तर में है, यह दृष्टि की स्पष्टता ही सर्वाधिक निगूढ़ है। इसीलिए मनुष्य का विश्वास नैतिकता की अपेक्षा अनैतिकता में अधिक है। अध्यात्म की आस्था पुष्ट हुए बिना नैतिकता

साधार नहीं होती। पौद्गलिक आकर्षण से दूर रहने की वृत्ति अध्यात्म है और पारस्परिक सम्बन्धों में पवित्र रहने की वृत्ति नैतिकता। पौद्गलिक आकर्षण का संयम किए बिना कोई भी व्यक्ति पारस्परिक व्यवहारों को पवित्र नहीं रख सकता। संकोच, भय, लज्जा और क़ानून—ये सब अनैतिकता के प्रतिषेध हैं, और इन सबका प्रतिषेध है—परोक्ष। उसका प्रतिषेध केवल अध्यात्म ही हो सकता है। मैं अध्यात्म को इसलिए जीवन का सर्वोच्च प्रहरी मानता हूं कि वह सब प्रतिषेधों का प्रतिषेध है। उसमें से जो विधि फलित होती है, वही हमारे जीवन का विशुद्ध नैतिक पक्ष होता है। भौगोलिक और जातीय विभक्तियां भी नैतिकता के अंकुरण में निमित्त बनती हैं, पर वे असीम और स्थायी नहीं होती। परिस्थिति-जनित सारी फल-परिणतियां स्वयं में निर्मूल्य हैं। साम्राज्यवाद भी नैतिक आचरण माना जाता था। शक्ति की भांति उसका प्रयोग भी सम्मत था। किन्तु परीक्षा करने पर उसकी नैतिकता निर्ममता से नष्ट हो जाती है। सचाई यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने-आप में पूर्ण है। पूर्ण अर्थात् स्वतन्त्र है। स्वतन्त्र और पूर्ण में कोई अर्थ-भेद नहीं है। अपूर्ण होकर कोई स्वतन्त्र नहीं हो सकता और स्वतन्त्र होकर कोई अपूर्ण नहीं होता। उन व्यक्तियों को पराधीन करने का जो यन्त्र है, वह मूल में अनैतिक है। अर्थात् सत्ता और उसे केन्द्र मानकर चलने वाली राज्य-संस्थाएं विशुद्ध अर्थ में नैतिक नहीं हो सकतीं। अपहारकता में नैतिकता नहीं समाती। सत्ता-केन्द्रित शासन सदा अपहारी होते हैं, इसलिए वे नैतिक नहीं होते। किन्तु हमने मान लिया कि अकेले में काम नहीं चलता, इसलिए व्यक्ति को समान बांधकर चलना होगा। नियन्त्रण के बिना बहुत लोग एक साथ नहीं रह सकते, इसलिए राज्य को मानकर चलना होगा। जहां पूर्णता समाप्त हुई, वहां मान्यता का उद्भव हुआ। फिर हमारी सारी व्याख्याएं भी उस पर निर्भर हो गईं। नैतिकता के शुद्ध रूप में व्यक्ति ही है। वह अध्यात्म है, स्वतन्त्र है, इसीलिए उसके चरित्र में कोई विकार नहीं होता। समाज में मान्यतापरक नैतिकता का उदय होता है, इसीलिए वहां अपूर्णता है, पारतन्त्र्य है और चरित्र-विकार है। पहले परिस्पर्श में कोई भी व्यक्ति अकेला नहीं होता—पूर्ण आध्यात्मिक नहीं हो सकता। इसलिए वह अध्यात्म-परिशोधित

नैतिकता को स्वीकार करता है। दूसरे; व्यक्ति, समाज, जाति, राज्य या राष्ट्र के लिए नहीं, अपितु अपने हित के लिए वह नैतिक बनता है। नैतिकता जब स्वहित के साथ जुड़ती है, तभी वह प्रत्यक्ष बन पाती है। फिर व्यक्ति के लिए नैतिकता का अर्थ स्वहित और स्वहित का अर्थ नैतिकता हो जाता है। दोनों अभिन्न बन जाते हैं, यही अध्यात्म का पहला परिस्पर्श है।

नैतिकता जब मुझसे भिन्न वस्तु है, तो वह मुझसे परोक्ष होगी। परोक्ष के प्रति मेरा उतना लगाव नहीं होगा, जितने की उसे अपेक्षा होती है। वह मुझसे अभिन्न होकर ही मेरे स्व में घुल सकती है। सात्म्य हुए विना कोई औषध भी परिणामजनक नहीं होता। तब नैतिकता की परिणति कैसे होगी? इस भाषा में जब सोचता हूं तो लगता है कि नैतिकता उपदेश्य नहीं है, वह स्वयं-प्रसूत है। अध्यात्म की दृष्टि स्पष्ट होते ही वह व्यक्त हो जाती है। जैन-दर्शन का सर्वोपरि आधार आत्मवाद है। इसीलिए उसकी रेखा का पहला बिन्दु संयम, चरित्र या नीति है। उसकी भाषा में जो अनात्म है, वह मोह है और जो मोह है, वह अनात्म है। आत्मा की जितनी दूरी, उतना मोह, आत्मा का जितना सामीप्य, उतना निर्मोह। जितना मोह, उतनी अनैतिकता और जितना निर्मोह, उतनी नैतिकता। तो उपदेश्य है, अध्यात्म। पूर्ण या स्वतन्त्र, प्रेरकता इसी में है। जो अकेले में, अँधेरे में और नींद में अन्याय नहीं करता, अर्थात् जिसकी प्रवृत्ति पर दिन और रात, परिषद् और अकेलेपन तथा नींद और जागरण का प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव नहीं होता, वह आध्यात्मिक है। विवशता में जो प्रेरकता है, वह दूसरों के प्रत्यक्ष होती है और स्वयं के परोक्ष। इस स्व-परोक्षता का नाम ही अन्-आध्यात्मिकता है। इसकी परिधि में व्यक्ति पूर्ण नैतिक बन नहीं पाता। इसीलिए भगवान् महावीर ने कहा था—'जितना आत्म-रमण है, वह अहिंसा है, और जितना बाह्य-रमण है, वह हिंसा है।' इसी सत्य की इन शब्दों में पुनरावृत्ति की जा सकती है—"जितनी आत्म-प्रत्यक्षता है, वह नैतिकता है और जितनी आत्म-परोक्षता है, वह अनैतिकता है।" 'विशुद्ध नैतिकता' देश-काल से खण्डित नहीं है। एक धर्म की गौणता व दूसरे की प्रमुखता, दूसरे की गौणता व पहले की

प्रमुखता—यह एक क्रम है, जिसे सापेक्षवाद या नय के नाम से अभिहित किया जाता है। यह वस्तु-सत्य है। हमारे ज्ञान का क्रम यही है। इसी समन्वय में से जो बोध उद्भूत होता है, वह अपूर्ण होने पर भी सत्य होता है। लोकतन्त्र का आधार यही दृष्टि है। पर सापेक्षता जैसे वस्तुगत है, वैसे लोकतन्त्र वस्तुगत नहीं है, इसीलिए उसमें असमन्वय भी फलित हो जाता है। पर्याय की भाषा भी एक नहीं है। जिस समय जो उपयोगिता रहती है, वही भाषा बन जाती है। न्याय, वस्तु का अन्तस्तल है, संविधान मानवीय मस्तिष्क की उपज और परिस्थिति-जन्य परिणति। सत्ता के जगत् में संविधान में न्याय होता भी है और मान्यता-निर्भर नैतिकता भी है। और इसीलिए है कि वह संविधान-सम्मत है। सचाई यह नहीं है। किसी व्यक्ति को कोई दण्ड दे, यह न्याय नहीं है; व्यक्ति अपने पाप का स्वयं प्रायश्चित करे; न्याय यही है। हम व्यक्ति को पूर्ण और एक इकाई मानकर चलते हैं, तो हमारी सारी व्यवस्था आत्मनिर्भर हो जाती है। उसमें जो समाज फलित होता है, वही स्वस्थ और नैतिक सम्पदा मे सम्पन्न होता है। अणुव्रत-आन्दोलन के माध्यम से आचार्यश्री तुलसी ने यही सन्देश दिया है। मनुष्य-जाति उनकी सदा ऋणी रहेगी।

●

नैतिक मूल्यों के ह्रास और विकास पर एक दृष्टि

समाज की उन्नति और अवनति का अंकन उसके नैतिक विचार और आचार के आधार पर होता है। नैतिक आधार का मूल नैतिक मान्यता है। समाज की जैसी मान्यता होती है, वैसा ही उसका आधार होता है। जिसके जीवन की आवश्यकताएं जितनी कम होती हैं, वह उतना ही महान होता है; इस मान्यता ने समाज में त्याग की ओर आकर्षण उत्पन्न किया था। फलतः स्वार्थ-मुक्त लोग आगे आए। जीवन की आवश्यकताएं जितनी अधिक होती हैं, उतनी ही सामाजिक उन्नति होती है, इस मान्यता ने समाज में भोग की स्पर्धा खड़ी कर दी है। अब कोई भी व्यक्ति इस मोड़ में पीछे रहना नहीं चाहता। हम भ्रष्टाचार करने वाले को दोष देते हैं, पर कितना आश्चर्य है कि भ्रष्टाचार की प्रेरणा जहां से फूटती है, उस ओर ध्यान नहीं देते।

नैतिक मूल्यों की पुनः प्रतिष्ठापना के लिए आवश्यक है कि जीवन की आवश्यकताओं को कम करने, सादा-सरल जीवन बिताने, त्याग व निःस्वार्थ वृत्ति को राष्ट्रीय संस्कृति का अभिन्न अंग माना जाए। राष्ट्र के इस दृढ़ संकल्प की घोषणा हो कि वह आवश्यकताओं को बढ़ाने की दौड़ में भाग नहीं लेगा। शिक्षा पद्धति में आवश्यक परिवर्तन हो और वह यह कि आदि से अन्त तक उक्त संकल्प का औचित्य सिद्ध करने वाले पाठ पर्याप्त मात्रा में हों। इस प्रकार का दृढ़ प्रयत्न निश्चित परिणाम ला सकता है।

समाज की एक मान्यता थी—चाहे जितने कष्ट आ जाएं पर सत्य और प्रामाणिकता अखण्ड रहनी चाहिए। इस मान्यता ने सच्चे और प्रामाणिक लोगों की सृष्टि की। आज समाज की मान्यता में परिवर्तन हुआ है। जन-मानस बड़ी तेजी से ऐसा बनता जा रहा है कि सत्य और प्रामाणिकता खंडित हों, तो भले हों, सुख-सुविधाएं प्राप्त होनी चाहिए।

इस मान्यता ने सत्य और प्रामाणिकता का मूल्य कम कर दिया है और सुख-सुविधाओं के मूल्यों में अकल्पित वृद्धि की है। आज हर आदमी इस भाषा में सोचता है—मैंने रिश्वत नहीं ली, मैंने मिलावट नहीं की, मैंने अप्रामाणिकता नहीं बरती, इसलिए वह कितना आगे बढ़ गया। उसके पास अच्छा मकान है, नौकर हैं, सुख-सुविधा के सारे सामान हैं, कार है, और भी बहुत कुछ है। समाज में उसकी प्रतिष्ठा बन गई है। मैं भी ऐसा करता तो अपने-आप में सुखी होता और समाज में प्रतिष्ठित। बुराई के परिणाम इतने अच्छे लग रहे हैं कि उनके सामने सदाचार के मूल्य टिक नहीं पा रहे हैं।

इस समस्या का समाधान हृदय-परिवर्तन के स्तर पर नहीं हो सकता। ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। और वह व्यक्ति-स्तर पर हो सकता है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। बुराई के परिणाम बुरे होते हैं। इस स्थिति का निर्माण करने में सरकार प्रयत्न करे, इधर नैतिक आन्दोलन तीव्रगति से चले और शिक्षा में शीघ्र ही नैतिक मूल्यों पर बल दिया गया तो यह त्रिकोण व्यापक और स्थायी रूप से भ्रष्टाचार के प्रति अरुचि उत्पन्न कर सकता है।

भ्रष्टाचार को मिटाने का संकल्प यदि अणुव्रत-आन्दोलन जैसे नैतिक आन्दोलनों का ही हो तो उनके सामने हृदय-परिवर्तन ही एकमात्र उसका विकल्प है किन्तु शासनतन्त्र जब उसे समाप्त करना चाहता है तो उसके सामने अनेक विकल्प हो सकते हैं। भ्रष्टाचार को जीवित रखने के लिए एक तर्क प्रस्तुत किया जाता है। वह यह कि कम वेतन पाने वाले कर्मचारी यदि रिश्वत न लें तो उनकी जीविका ही कैसे चले? इस तर्क के पीछे उनकी दुर्बलता है, इसे अमान्य नहीं किया जा सकता, फिर भी इसमें कुछ सचाई भी है। शासन-तन्त्र ने वेतन देने का आधार बौद्धिक क्षमता या कार्य-कुशलता को माना है। यह असंगत भी नहीं है। किन्तु जीवन-निर्वाह के लिए पर्याप्त वेतन न मिले, यह भी असंगति है। जीवन-निर्वाह के उपयुक्त वेतन मिलने पर भ्रष्टाचार के प्रति विवशता जनित झुकाव नहीं होता।

जिनके सामने विवशता या अनिवार्य आवश्यकता की पूर्ति न होने का

प्रश्न है, वे ही भ्रष्टाचार नहीं करते हैं। भ्रष्टाचार वे लोग भी करते हैं, जो पर्याप्त धन-राशि पाते हैं। उनके सामने अपना जीवनस्तर ऊँचा बनाए रखने की समस्या है। लड़के-लड़कियों का विवाह करना एक बड़ा प्रश्न है। शादी के अवसर पर किए जाने वाले ठहराव, दहेज आदि के विरुद्ध जब तक प्रबल सामाजिक क्रान्ति नहीं होती है, तब तक बड़े-बड़े लोग भी भ्रष्टाचार को छोड़ने में कठिनाई का अनुभव करते हैं।

बड़े-बड़े लोगों में भ्रष्टाचार चलता है तब उनकी नियन्त्रण शक्ति शिथिल हो जाती है, इसलिए छोटे लोग भी खुलकर भ्रष्टाचार करते हैं। शासन-तन्त्र यदि बड़े अधिकारियों और व्यापारियों पर कठोर नियंत्रण रखने में समर्थ हो तो सम्भव है छोटों में भ्रष्टाचार करने का साहस ही न रहे।

भ्रष्टाचार केवल अभावजनित बीमारी नहीं है। वह मानसिक बीमारी भी है और वह छूत की बीमारी भी है। मैं बड़ी तीव्रता से यह अनुभव कर रहा हूँ कि जनता के व्यवहार का मनोवैज्ञानिक अध्ययन होना चाहिए। अभावजनित बीमारी का इलाज आवश्यक पदार्थों को उपलब्ध कर किया जा सकता है पर मानसिक बीमारी का इलाज पदार्थों के अधिक उत्पादन या अधिक आयात से नहीं किया जा सकता। उसके लिए एक शैक्षणिक और सांस्कृतिक आधार प्रस्तुत करने की आवश्यकता है। भारतीय शिक्षा-नीति का मौलिक सिद्धान्त यह है कि छात्रों के लिए शिल्पकला और विज्ञान का प्रशिक्षण जितना आवश्यक है, उनके लिए त्याग का प्रशिक्षण भी उतना ही आवश्यक है।

धार्मिक मान्यता अपनी व्यक्तिगत भले हो पर संस्कृति का मौलिक रूप सबका एक होना चाहिए। वह है त्याग। दूसरों के अधिकारों को हड़पकर स्वयं के लिए सुख-सुविधा प्राप्त करना भारतीय संस्कृति के प्रतिकूल है। इसका संकेत मैं पहले दे चुका हूँ, फिर भी इसकी पुनरुक्ति में मुझे कोई दोषनहीं दीखता। मानसिक बीमारी को मिटाने के लिए त्याग के प्रशिक्षण से बढ़कर शायद कोई दूसरा इलाज नहीं है। त्याग के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और प्रशिक्षण के लिए अणुव्रत-आन्दोलन अपना योग देने को प्रस्तुत है।

●

नैतिकता की शिक्षा और प्रशिक्षा

शिक्षा की समग्र धारा के सम्बन्ध में जब विचार चलता है तो नैतिकता की शिक्षा का प्रश्न सहज ही उठ आता है। किन्तु यह प्रश्न जितना सहज है, उतना ही जटिल है। पर जटिलता उस कार्य में बाधा नहीं डालती, जिसकी आवश्यकता अनुभव की जाती है। नैतिकता के शिक्षण की आवश्यकता है और इसलिए कि उसके बिना हमारे हृदय की असीम शक्तियों को विकसित होने का अवसर नहीं मिलता।

नैतिक शिक्षा का उद्देश्य

नैतिक शिक्षा का उद्देश्य वृत्तियों का परिष्कार करना है। मनुष्य में दो प्रकार की वृत्तियाँ होती हैं—इष्ट और अनिष्ट। जिस कोटि की वृत्तियों को अभिव्यक्त होने का हेतु मिलता है, वे अभिव्यक्त हो जाती हैं और शेष अनभिव्यक्त रह जाती हैं। इस कोटि की वृत्तियों की अभिव्यक्ति के मुख्य हेतु हैं: १. ज्ञान, २. साधना-क्रियात्मक अभ्यास, ३. वातावरण।

कुछ लोग वातावरण को मुख्य हेतु मानते हैं किन्तु मैं इससे सहमत नहीं हूँ। उनका मानना है—नैतिकता सिखाई नहीं जा सकती। वह वातावरण से फलित होती है अर्थात् वह अनुकृत होती है। विद्यार्थी को जैसा वातावरण मिलता है, वैसा ही वह हो जाता है। अभिभावक और अध्यापक अच्छे होते हैं तो विद्यार्थी अपने-आप अच्छा हो जाता है।

इस तर्क में सचाई का अंश नहीं है, यह तो मैं कैसे कहूँ ? पर यह पूरे अर्थ में सत्य नहीं है।

वातावरण संस्कार-जागरण में हेतु बनता है, फिर भी यह मानना अधिक वास्तविक होगा कि संस्कार-जागरण का सर्वोत्तम हेतु ज्ञान और अभ्यास है। अनैतिकता और नैतिकता के परिणामों का सम्यक् ज्ञान हो तो नैतिकता के प्रति झुकाव होना अधिकसम्भव है।

नैतिकता अच्छी है और उसका परिणाम अच्छा होता है तथा अनैतिकता

बुरी है और उसका परिणाम बुरा होता है—इतना भर जान लेना तद्-विषयक ज्ञान नहीं, यह उपदेश है। विद्यार्थी के लिए यह आवश्यक नहीं है। उसे अनैतिकता और नैतिकता सम्बन्धी कार्य-कारण या प्रवृत्ति और परिणाम की वैज्ञानिक प्रक्रिया से परिचित कराना है, जिससे वह स्वयं अपने लिए नैतिक मार्ग चुन सके।

अनैतिकता और नैतिकता के परिणामों का यथेष्ट ज्ञान होने पर आदमी सहज ही नैतिक बनने का प्रयत्न करता है। अनैतिकता का परिणाम अच्छा है, उससे सुख मिलता है—इस धारणा से प्रेरित होकर ही मनुष्य अनैतिक बनता है। यदि उसे यह ज्ञान करा दिया जाय कि नैतिकता अधिक अच्छी है, उससे अधिक अच्छे ढंग से जीवन चल सकता है तो सहज ही नैतिकता के प्रति आकर्षण बढ़ेगा।

कुछ लोग यह भी मानते हैं कि विद्यार्थी के लिए जो पाठ्यक्रम निश्चित है, उसी में से उसे नैतिकता सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त हो जाना चाहिए, उसे पृथक् रूप से नैतिकता का पाठ्यक्रम देना आवश्यक नहीं है।

इस मान्यता में भी कुछ संशोधन अपेक्षित लगता है। समग्र पाठ्यक्रम का निर्माण नैतिकता के संदर्भ में हो, इस तथ्य से कोई असहमति नहीं है, पर क्या यह मानना सम्भव है कि दूध की चिकनाई, जो उसमें समग्रता से व्यस्त है, का वही परिणाम होगा, जो मक्खन या घी का होता है। नैतिकता स्वयं में एक विज्ञान है, उसका अध्ययन स्वतन्त्र रूप से कराया जाय, यह बहुत अपेक्षित है।

नैतिकता के अध्ययन की प्रक्रिया के लिए निम्न अपेक्षाएँ हैं :

प्रथम—प्राइमरी से हायर सेकण्डरी तक नैतिकता के पाठ्यक्रम का शिक्षण।

द्वितीय—बी० ए० और एम० ए० के पाठ्यक्रमों में नैतिकता की शिक्षा का एक स्वतन्त्र या किसी पत्र के साथ इस विषय का संयोजन।

तृतीय—नैतिकता का शिक्षा की स्वतन्त्र शाखा के रूप में विकास।

नैतिक शिक्षण की पद्धति

अध्यापक का कर्तव्य विद्यार्थी को उपदेश देना नहीं, किन्तु उसकी

दर्शन-शक्ति का विकास करना है। उसका विकास होने पर नैतिकता के प्रति सहज आकर्षण हो जाता है।

दर्शन के तीन अंग हैं : १. कार्य-दर्शन, २. कारण-दर्शन, ३. परिणाम-दर्शन।

उदाहरण के लिए समझिए किसी व्यक्ति ने विश्वासघात किया। वह एक कार्य है। उसने पैसे के लालच में वैसा किया, यह उसका कारण है। जिसके साथ विश्वासघात किया वह उसका शत्रु बन गया, यह उसका परिणाम है।

दर्शन की दो बाधाएँ हैं : १. बहिर-दर्शन, २. अन्तर्-दर्शन।

मनुष्य की इन्द्रियाँ बहिरमुखी हैं। इसलिए उसके बहिर-दर्शन का विकास विशेष प्रयत्न के विना हो हो जाता है। अन्तर्-दर्शन का विकास करने के लिए एक विशेष प्रेरणा और प्रयत्न आवश्यक है। प्रारम्भ से ही बच्चे में अन्तर्-दर्शन की आदत डाल दी जाए तो वह अपने हर कार्य, उसके कारण और परिणाम को देख सकता है। जो देखता है, कर्तव्य के प्रति जागरूक और अकर्तव्य के प्रति उदासीन अधिक स्फूर्ति के साथ हो सकता है।

नैतिक विज्ञान के शिक्षक

नैतिक विज्ञान का शिक्षण देने के लिए शिक्षकों का प्रशिक्षित होना आवश्यक है। नैतिक आचरण की अपेक्षा हर अध्यापक से की जा सकती है पर नैतिक शिक्षण की अपेक्षा हर अध्यापक से नहीं की जा सकती। नैतिक विज्ञान की शिक्षा वही शिक्षक दे सकता है, जिसने नैतिक विज्ञान का विधिवत् अध्ययन किया है। हम बहुत बार इस समस्या में उलझ जाते हैं कि जो शिक्षक स्वयं नैतिक आचरण नहीं करता, वह नैतिक विज्ञान का प्रशिक्षण प्राप्त होने पर भी विद्यार्थियों को क्या नैतिकता पढ़ा सकेगा ? इस तथ्य को उपस्थित करते हुए एक दूसरे तथ्य को क्यों भुला देते हैं कि जो शिक्षक नैतिक आचरण में दक्ष है, क्या उसके विद्यार्थी नैतिकता में दक्ष हो जाते हैं ? एक शिक्षक नैतिक आचरण में दक्ष है या नहीं इस प्रश्न का जितना महत्त्व है, उतना ही महत्त्व इस प्रश्न का है कि वह नैतिक विज्ञान के शिक्षण में दक्ष है या नहीं ? जहाँ तक विद्यार्थी को नैतिक विज्ञान से

परिचित कराने का प्रश्न है, उस सीमा तक शिक्षक से यही अपेक्षा रखी जा सकती है कि वह नैतिक विज्ञान की व्याख्या में बहुत दक्ष हो। शिक्षक या अभिभावक की अनैतिकता का विद्यार्थी इसीलिए अनुकरण करता है कि वह नैतिक विज्ञान से परिचित नहीं होता। उससे परिचित हो जाने पर वह कर्तव्य का निर्णय अपनी स्वतन्त्र बुद्धि से करेगा। फिर उसका गन्तव्य वही नहीं होगा, जो उसके शिक्षक और अभिभावक का है।

हम नैतिक शिक्षण और आचरण को एक ही दृष्टि से देखने की भूल करते हैं। आचरण दूसरी सीढ़ी है, पहली सीढ़ी है शिक्षा। नैतिक आचरण का अभ्यास कराने के लिए साधना-शिविरों की अपेक्षा है। वह कार्य शिक्षा-संस्था का नहीं है किन्तु नैतिकता के क्षेत्र में काम करने वाली आध्यात्मिक और सामाजिक संस्थाओं का है। उनके लिए यह अपेक्षित है कि ग्रीष्मावकाश में विद्यार्थियों के लिए साधना-शिविरों की समायोजना करें। ज्ञानात्मक व प्रयोगात्मक दोनों प्रकार की स्थितियों का निर्माण होने पर नैतिकता के विकास की अधिक संभावनाएं की जा सकती हैं।

नैतिकता प्रशिक्षण केन्द्र

नैतिकता के शिक्षण का काम जैसे आगे बढ़ेगा, वैसे ही उसके प्रशिक्षण की अपेक्षा का अनुभव होगा। प्रशिक्षण के दो रूप हो सकते हैं—शिक्षक-प्रशिक्षण केन्द्रों में नैतिकता का प्रशिक्षण अथवा नैतिक विज्ञान के स्वतन्त्र केन्द्रों में उनका प्रशिक्षण। नैतिक प्रशिक्षण-केन्द्र में शिक्षकों को प्रशिक्षित करना राज्यों के शिक्षा-मंत्रालयों पर निर्भर है।

स्वतन्त्र केन्द्रों का संचालन अणुव्रत-विहार जैसी संस्थाओं का काम है। विहार ने इसका प्रयोग करने का संकल्प किया है। शिक्षक-प्रशिक्षण की अवधि दो वर्ष की होगी, ऐसी चर्चा सुनी जा रही है। यदि उसकी अवधि दो वर्ष की जाए तो एक वर्ष नैतिक शिक्षा प्रशिक्षण के लिए हो सकता है। इससे शिक्षकों में दायित्व की भावना और कर्तव्य-पालन की भावना के विकास की सम्भावना अधिक स्पष्ट हो जाती है।

जीवन-निर्माण के सूत्र

व्यक्ति का व्यक्तित्व संस्कारों की प्रलम्ब शृंखला है। उसकी जो कड़ी सम्मुख होती है, वह व्यक्तित्व को आकार और प्रकार देती है तथा जो असम्मुख होती है, वह अज्ञात रह जाती है। संस्कार-शृंखला की कड़ियां अनन्त हैं। किन्तु व्यक्तित्व को रूप देने वाली या बुद्धिगम्य बनाने वाली कड़ियां कुछेक हैं और वे सब द्वन्द्वात्मक हैं। जैसे—

१. भय	१. अभय
२. शोक	२. प्रसन्नता
३. घृणा	३. प्रेम
४. प्रिय के प्रति रति, अप्रिय के प्रति विरति	४. समभाव
५. विकार	५. पवित्रता
६. क्रोध	६. शान्ति
७. मान	७. मृदुता
८. माया	८. ऋजुता
९. लोभ या संग्रह	९ संतोष या असंग्रह

इन द्वन्द्वों के पूर्वार्द्ध की अभिव्यक्ति सहज ही हो जाती है, किन्तु उत्तरार्द्ध की अभिव्यक्ति के लिए विशेष साधना या अभ्यास करना होता है। यह अभ्यास ही हमारी भाषा में जीवन-निर्माण का प्रशिक्षण है।

इस प्रशिक्षण से पूर्वार्द्ध की परिसमाप्ति हो जाती है, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता। किन्तु यह कहा जा सकता है कि इससे पूर्वार्द्ध की उच्छृंखलता नियंत्रित हो जाती है और उत्तरार्द्ध को अभिव्यक्ति का अवसर मिलता है।

प्रयोग और कालक्रम

जीवन-निर्माण की पद्धति आध्यात्मिक प्रयोगशाला है। उसकी

प्रयोग-भूमिकाएं या प्रयोग-कक्षाएं सात होंगी और उनका अभ्यास-काल सात सप्ताह का होगा। जीवन-निर्माण का शिक्षण लेने वाला व्यक्ति प्रति सप्ताह एक कक्षा का अभ्यास करेगा। कक्षाओं के अभ्यास-विषय ये होंगे :

१. अभय, २. स्वशासन, ३. मानसिक सन्तुलन, ४. प्रेम ५. प्रमोद, ६. पवित्रता, ७. अनाग्रह।

इनके फलित निम्न प्रकार हैं :

१. अभय	:	सत्य
२. स्वशासन	:	प्रामाणिकता
३. मानसिक सन्तुलन	:	शान्ति
४. प्रेम	:	समानता
५. प्रमोद	:	प्रसन्नता
६. पवित्रता	:	स्वास्थ्य
७. अनाग्रह	:	समन्वय

जीवन-निर्माण-केन्द्र का वातावरण अधिक-से-अधिक शासन-मुक्त या स्वतन्त्र रहेगा। कर्तव्य-बुद्धि और दायित्व-भावना के विकास के लिए ऐसा होना आवश्यक है।

इस साधना में विषयों की प्रधानता नहीं होगी, किन्तु चर्या के ही अंग होंगे। चर्या के मुख्य सूत्र सात होंगे :

१. योगासन, २. संकल्प, ३. स्वाध्याय, ४. ध्यान कायोत्सर्ग, ५. स्वावलम्बन, ६. खाद्य-संयम, ७. सद्व्यवहार—मैत्रीपूर्ण व्यवहार, मृदुव्यवहार, सापेक्ष व्यवहार।

ये जीवन-निर्माण की कक्षाएं मानवीय गुणों (या सहज धर्म) से सम्बन्धित हैं इसलिए ये सम्प्रदायातीत हैं। हर मनुष्य मानता है, अभय, स्वशासन आदि जीवन के लिए आवश्यक हैं पर केवल मानने से कोई कार्य निष्पन्न नहीं होता। फल में रस तब पड़ता है, जब वह पक जाता है। अभय आदि मानवीय गुण भी तभी सरस बनते हैं, जब वे सध जाते हैं। जीवन का निर्माण कोई मान्यता से नहीं होता, किन्तु साधना से होता है।

यह केन्द्र उन व्यक्तियों के लिए जीवन-निर्माण का केन्द्र है, जिनमें

उक्त मानवीय गुणों के बीज अंकुरित नहीं हुए हैं और वह उन व्यक्तियों के लिए साधना-केन्द्र है, जो उक्त मानवीय गुणों के वृक्ष को शतशाखी बनाना चाहते हैं। यह केन्द्र उन व्यक्तियों के लिए साधना-केन्द्र होगा, जो जीवन का बहुत बड़ा भाग इसी क्रम में संलग्न करना चाहें।

आज के तनावपूर्ण वातावरण में मानसिक शान्ति की समस्या बहुत जटिल है। इसका सरलतम उपाय है, साधना। वर्ष-भर व्यस्त रहने वाले एक-दो या कुछ सप्ताह तक साधना कर मानसिक शान्ति का दृढ़ अभ्यास कर सकते हैं। पूरे दिन का समय न लगाने की स्थिति में हों, तो एक या दो घंटा तक साधना कर सकते हैं। यह केन्द्र उन सब लोगों के लिए है, जो मानवीय गुण, आन्तरिक शक्ति और मानसिक शान्ति का विकास चाहते हैं।

●

अणुव्रत दर्शन की पृष्ठभूमि

व्यक्ति और समाज

समाज का आधार परस्परावलम्बन है। एक दूसरे को सहारा देता है और एक दूसरे से सहारा लेता है, यह परस्परावलम्बन है। समाज का आधार एक-क्षेत्रीयता नहीं किन्तु एक-सूत्रता है। एक गांव में हजार आदमी एकत्र हैं किन्तु वे परस्पर सहयोग के धागे से बँधे हुए नहीं हैं तो वे हजार व्यक्ति हैं, एक समाज नहीं हैं। सहयोग के सूत्र से बँधे हुए पांच व्यक्तियों का भी समाज बन जाता है। व्यक्ति की अन्तिम सीमा-रेखा स्वार्थ है और समाज की आदि-रेखा परार्थ है। जितना स्वार्थ है, वह अपना है। जितना परार्थ है, वह सहयोग है। यह सहयोग ही व्यक्ति के व्यक्तित्व को सामाजिक रूप में बदल देता है।

हर व्यक्ति सामाजिक जीवन जीता है। वह अपने व्यक्तित्व को समाज से सम्बद्ध करता है किन्तु विलीन नहीं करता। समाजवादी दर्शन ने यह दृष्टि दी कि व्यक्ति अपने को पूर्णरूपेण समाज में विलीन कर दे पर ऐसा नहीं हुआ और हो भी नहीं सकता। जहां व्यक्ति को भौतिक स्पर्धाओं में से गुजरने की छूट है और भौतिक विकास ही परम लक्ष्य है, वहां व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को समाज में विलीन नहीं कर सकता।

यद्यपि समाजवाद या साम्यवाद स्वार्थ-संयम की प्रक्रिया है, फिर भी उसके पास स्वार्थ-संयम का कोई प्रबल सूत्र नहीं है। उसे स्वार्थ-संयम का वैधानिक प्रयोग माना जा सकता है किन्तु वह उस (स्वार्थ-संयम) की प्रत्यक्ष प्रेरणा नहीं है। समाजवादी पद्धति में बल-प्रयोग से स्वार्थ को सीमित किया गया है किन्तु उससे स्वार्थ का स्रोत सूखा नहीं है।

स्वार्थ-संयम और अध्यात्म

साम्यवादी जीवन-पद्धति इसी मनोवृत्ति की प्रतिक्रिया है। साम्यवाद को स्वार्थ-संयम का विधान-प्रेरित प्रयोग माना जा सकता है। उसमें स्वार्थ-

संयम की प्रत्यक्ष प्रेरणा नहीं है। किन्तु वैधानिक ढंग से स्वार्थ को सीमित करने से वह (स्वार्थ-संयम) फलित होता है। क़ानून की जकड़ में भी कुछ न कुछ 'स्व' का पोषण चलता ही है। क़ानून की जकड़ ढीली हो जाए तो वह अधिक मात्रा में चल सकता है। इसका फलित यही हुआ कि साम्यवादी जीवन-पद्धति में भी व्यक्ति अपने 'स्व' को सुरक्षित रखे हुए हैं।

लोकतन्त्रीय जीवन-पद्धति में 'स्व' को संरक्षण प्राप्त है। वहां क़ानून की जकड़ कठोर नहीं है। इसलिए वहां स्वार्थ-पोषण की सम्भावनाएं मुक्त हैं।

किसी भी जीवन-पद्धति में व्यक्ति का 'स्व' खण्डित नहीं है—अहं (मैं) के संग्रह का विसर्जन नहीं है। यह अहं का संग्रह ही सब दोषों का उत्पत्ति-बीज है। हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह—ये सब किसलिए हैं ? अपने लिए और केवल अपने लिए।

जितनी भी पदार्थवादी पद्धतियां हैं, वे 'स्व' का निरसन करने में असमर्थ हैं। उनका आधार भौतिकता है। भौतिकतावादी व्यवस्था 'स्व' का शोधन नहीं करती, नियमन करती है। फलत: वह प्रत्यक्ष में शान्त और परोक्ष में उद्दीप्त रहता है। इसीलिए व्यक्ति छिपे-छिपे अनैतिक आचरण करता है।

आध्यात्मिकता ही एक ऐसा सत्य है जिससे 'स्व' का शोधन होता है। आध्यात्मिकता का अर्थ है अन्तर्-जगत् में प्रवेश। वहां पहुंचने पर व्यक्ति सामाजिक होते हुए भी अकेला रहता है। बाह्य-जगत् का वह उपभोग करता है किन्तु उसके प्रति उसका 'स्व' या 'ममत्व' नहीं होता। यह ममत्व का विसर्जन ही आध्यात्मिकता है। अणुव्रत आन्दोलन की आधार-भित्ति यही है।

समाज-परिवर्तन की अक्षमता

कुछ लोग इस भाषा में सोचते हैं कि आध्यात्मिकता से सामाजिक परिवर्तन नहीं हो सकता। हजारों वर्ष बीत जाने पर भी आध्यात्मिक लोग समाज को नहीं बदल सके हैं। समाजवादी-पद्धति ने पचास वर्षों में समाज का ढांचा ही बदल दिया है। उनका सोचना सही है। समाज का ढांचा बदलता है आर्थिक-विकास और व्यवस्था से। जहां औद्योगिक क्रान्ति

हुई है, वहां समाज का रूप-परिवर्तन हुआ है, फिर वहां समाजवादी पद्धति है या जनतन्त्रीय प्रणाली ।

समाज की जो अपेक्षाएं हैं—रोटी, कपड़ा, मकान, दवा, शिक्षा आदि, वे सब अर्थ के अधीन हैं। अर्थाधीन व्यवस्था की पूर्ति की अपेक्षा आध्यात्मिकता से की जाए, यह मूल में भूल है। इसी प्रकार आध्यात्मिकता से होने वाले सामाजिक लाभ की अपेक्षा अर्थ-व्यवस्था से की जाए, वह भी मूल में भूल है। हमें हर वस्तु का मूल्यांकन उसके वास्तविक अस्तित्व के आधार पर करना चाहिए।

आध्यात्मिकता क्यों ?

आर्थिक विकास और व्यवस्था होने पर भी आज का सम्पन्न मनुष्य उतना ही अर्थ-लोलुप है जितना पहले था।

वैज्ञानिक विकास अपने चरम शिखर पर है, फिर भी आज का विज्ञान-जीवी मनुष्य उतना ही आक्रामक है, जितना पहले था।

शिक्षा का स्तर बहुत ऊंचा होने पर भी आज का शिक्षित मनुष्य उतना ही स्वार्थी है जितना पहले था।

आर्थिक, वैज्ञानिक और शैक्षणिक विकास ने मनुष्य के व्यवहार को बदला है पर उसी को बदला है, जो उनसे सम्बन्धित है। मनुष्य में ऐसी अनेक मूल प्रवृत्तियां हैं, जिन्हें ये नहीं बदल सकते। क्रोध, अभिमान, कपट, लोभ, भय, शोक, घृणा, काम-वासना, कलह—ये मनुष्य की शाश्वत मूल-प्रवृत्तियां हैं। आर्थिक अभाव तथा अज्ञान के कारण जो सामाजिक दोष उत्पन्न होते हैं, वे आर्थिक और शैक्षणिक विकास से मिट जाते हैं किन्तु मूल प्रवृत्तियों से उत्पन्न होने वाले दोष उनसे नहीं मिटते। मूल प्रवृत्तियों का नियंत्रण या शोधन आध्यात्मिकता से ही हो सकता है, इसलिए समाज में उसका अस्तित्व अनिवार्य है।

आध्यात्मिकता से भले ही समाज का रूप-परिवर्तन न हुआ हो, किन्तु उससे सत्य के प्रति आस्था की सृष्टि हुई है। चरित्र और नैतिकता के प्रति जो आस्था है, वह आध्यात्मिकता का ही प्रतिफलन है। आध्यात्मिकता का अंकन संख्या में मत करिए। उसका अंकन गुण-मात्रा से करिए। यह देखिए वे लोग कैसे हैं, जिनमें आध्यात्मिक विकास हुआ है।

अध्यात्म का व्यावहारिक रूप

जिन विचारधाराओं ने मनुष्य को भौतिक इकाइयों में विभक्त किया है, वे सब काल्पनिक व सामयिक हैं। आध्यात्मिकता का प्रतिबिम्ब मानवीय विभक्ति नहीं किन्तु एकता है। उसके अनुसार भौगोलिक, जातीय, साम्प्रदायिक, भाषायी—ये भेद अस्वाभाविक हैं, एकता स्वाभाविक है।

आध्यात्मिक व्यवहार की स्वीकृति के मुख्य अंग हैं :

१. मानवीय एकता में विश्वास, २. मानवीय स्वतंत्रता में विश्वास, ३. विश्व-शान्ति एवं विश्व-मैत्री में विश्वास, ४. सह-अस्तित्व में विश्वास, ५. सत्य में विश्वास, ६. प्रामाणिकता में विश्वास, ७. निश्छल व्यवहार में विश्वास, ८. पवित्रता में विश्वास, ९. संग्रह की सीमा में विश्वास।

ये विश्वास धर्म के मूलभूत सिद्धांतों में आस्था को प्रकट करते हैं। प्रथम चार विश्वास अहिंसा अणुव्रत के फलित हैं। पांचवां सत्य, छठा-सातवां अचौर्य, आठवां ब्रह्मचर्य और नवां अपरिग्रह का फलित है।

व्यवहार में अध्यात्म का प्रतिपालन जीवन की महान सफलता है। इससे व्यक्ति और समाज दोनों लाभान्वित होते हैं।

ज्ञान से अगला चरण

ज्ञान में बहुत विश्वास है और किया जाता है पर उस ज्ञान में सफलता का विश्वास नहीं किया जा सकता जो साधना (अभ्यास)-शून्य है। अणुव्रत-आन्दोलन ज्ञान का आन्दोलन नहीं है, वह साधना का आन्दोलन है। इसमें ज्ञान की अपेक्षा नहीं है, ऐसा नहीं है। किन्तु इसमें साधना की प्रधानता है। ऐसे अनेक लोग हैं, जो बुराई को जानते हैं पर छोड़ नहीं पाते। बुराई को बुराई न जानने वाला उसे न छोड़े, वह अज्ञान है। पर बुराई को बुराई मानने वाला उसे न छोड़े, वह कुछ और है। इससे फलित होता है कि बुराई कोरे ज्ञान से नहीं छूटती। उसे छोड़ने के लिए कुछ और भी अपेक्षित है। वह है साधना। साधना अर्थात् ज्ञान को अभ्यास की आंच में पकाना और उतना पकाना, जिससे जानने और करने की बीच की दूरी मिट जाए। आत्म-चिन्तन, ध्यान और मैत्री का अभ्यास यह अणुव्रत की साधना है। इससे गृहीत व्रत सिद्ध होते हैं, सुख और शान्ति के प्रति काल्पनिक मान्यता वास्तविकता में बदल जाती है।

अणुव्रत

मनुष्य अपूर्ण है। अपूर्ण इस अर्थ में है कि वह अपेक्षाओं से घिरा हुआ है। उसके शरीर है, इसलिए उसे खाने-पीने की अपेक्षा है। उसके वाणी है, इस लिए उसे समाज की अपेक्षा है। उसके मन है, इसलिए उसे मान-सम्मान एवं पूजा-प्रतिष्ठा की अपेक्षा है। एक मनुष्य, हजारों अपेक्षाएं। वे पूरी होती हैं बाह्य जगत् से। वह बाह्य जगत् से लेता है और अपने में भरता है। यह आदान उसकी व्यक्तिगत सीमा को तोड़ उसे सामाजिक बना देता है। व्यक्ति यदि निरपेक्ष होता, बाहर से कुछ भी लेना अपेक्षित नहीं होता तो वह व्यक्ति ही होता। किन्तु ऐसा नहीं है, इसीलिए वह व्यक्ति और सामाजिक दोनों रूपों में अवस्थित है।

समाज की शृंखला अपेक्षा है। और वही हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्य और परिग्रह का उद्गम-हेतु है। अपूर्णता की ओर बढ़ने का मार्ग है अपेक्षाओं का संयम। अपेक्षाओं के संयम का अर्थ है हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्य और परिग्रह का संयम।

संयम का अर्थ है उस व्यक्तित्व का विकास जो बाह्य से निरपेक्ष होकर अपने-आप में परिपूर्ण, संतुष्ट और परितृप्त है।

संयम का अर्थ है उस व्यक्तित्व का विनाश जो बाह्य से अधिक सम्बद्ध होकर अपने-आप में अपूर्ण, असंतुष्ट और अतृप्त रहता है।

निरपेक्षता की स्थिति ध्यान की उत्कृष्ट साधना के द्वारा प्राप्त हो सकती है। अति-सापेक्षता की स्थिति ध्यान की साधना से शून्य व्यक्ति में होती है। तीसरी स्थिति ध्यान की मध्यम साधना से प्राप्त हो सकती है। उसमें अपेक्षाएँ रहती हैं पर निरंकुश नहीं। उनकी पूर्ति का प्रयत्न किया जाता है, पर येन-केन-प्रकारेण नहीं। इस संस्कार-धारा में हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्य और परिग्रह की प्रवृत्ति सीमित हो जाती है। यही 'अणुव्रत' है।

परिभाषा की शब्दावली में ध्यान की मध्यम-साधना के द्वारा अपेक्षाओं का परिसीमन और फलतः हिंसा आदि का परिसीमन ही 'अणुव्रत' है।

अणुव्रत के कार्यक्रम का भावी आधार

हर आदमी सुख चाहता है, इसका अर्थ है कि वह समाधान चाहता है। जहाँ समस्या है, वहाँ सुख नहीं है। सुख समाधान की स्थिति में ही हो सकता है। समाधान तभी प्राप्त होता है, जब समस्या के निदान और चिकित्सा को समझ लिया जाता है।

समस्या के दो वर्ग हैं—शाश्वत और सामयिक। हर समस्या की दो स्थितियाँ हैं—मूल और प्रतिफलन। जो समस्या मानसिक अवस्था में उत्पन्न होती है और सामाजिक व्यवस्था में प्रतिफलित होती है, वह शाश्वत समस्या है, उसे आन्तरिक भी कहा जा सकता है। जो समस्या प्राकृतिक अवस्था में उत्पन्न होती है और सामाजिक व्यवस्था में प्रतिफलित होती है, वह सामयिक समस्या है, उसे बाहरी समस्या भी कहा जा सकता है। इन दोनों के मूल और प्रतिफलन का आकार यह होगा :

	मूल	प्रतिफलन
शाश्वत समस्या :	मानसिक अवस्था में	सामाजिक व्यवस्था में
सामयिक समस्या :	प्राकृतिक अवस्था में	सामाजिक अवस्था में

मनुष्य की शाश्वत मनोवृत्ति है कि वह शक्ति-सम्पन्न होकर अशक्त व्यक्तियों को अपने समान होने की स्वीकृति देना भी नहीं चाहता। यह अस्वीकृति स्थित्यन्तर के साथ-साथ रूपान्तर कर लेती है पर सामाजिक भूमिका में अस्तित्व-हीन नहीं होती। वर्गभेद, वर्णभेद और जातिभेद इसी शाश्वत मनोवृत्ति के प्रतिबिम्ब हैं। समाज में ऐसी कोई प्रेरणा दिखाई नहीं देती, जो व्यक्ति-व्यक्ति के अहं को अपने में विलीन कर सके। तब अपना अहं अपना ही रहता है, उसकी तृप्ति के लिए दूसरों को अपने मे छोटा बनाए रखना अनिवार्य हो जाता है और वह आन्तरिक समस्या सामाजिक व्यवस्था में प्रतिफलित होती रहती है। राजसत्ता, और सामान्य वर्ग, धनी और निर्धन, उच्च सत्ता और कार्यकारी-वर्ग—ये विभिन्न प्रतिफलन हैं, जो

विभिन्न युगों में समाज-व्यवस्था के साथ-साथ परिवर्तित होते रहते हैं। किन्तु बड़प्पन और छुटपन की मूल मनोवृत्ति का प्रतिबिम्ब सामाजिक व्यवस्था में सदा रहा है। यह प्रतिबिम्ब समाप्त इसलिए नहीं हुआ कि उसकी चिकित्सा समाज-व्यवस्था में परिवर्तनों द्वारा की गई। मूल समाज-व्यवस्था में नहीं था, इसलिए चिकित्सा मूल की नहीं हुई, केवल प्रतिफलन की हुई। इसी प्रकार संग्रह, हिंसा आदि समस्याएँ भी शाश्वत समस्याएँ हैं।

सामुदायिक जीवन जहाँ समाधान है, वहाँ एक समस्या भी है। समाज जहाँ अपूर्णता की समस्या को समाधान देता है वहाँ संघर्षज समस्याओं को जन्म भी देता है किन्तु संघर्षज समस्याओं का मूल भी मनोवृत्ति में मिलता है। इसलिए बहुत सारी सामाजिक समस्याएँ विशुद्ध अर्थ में मानसिक समस्याएँ होती हैं।

देश-काल के रूपान्तर से रूपान्तरित होने वाली मानवीय मनोवृत्ति से जो समस्याएँ निष्पन्न होती हैं, वे सब शाश्वत समस्याएँ हैं। इस परिभाषा को मान लेने पर सामयिक समस्याओं की परिधि बहुत छोटी हो जाती है। फिर उसकी भाषा यह हो सकती है—जिस समस्या का मूल मानवीय मनोवृत्ति में न हो, केवल देश, काल और परिस्थिति में हो, वह सामयिक समस्या है। मैं यह कहना भी पसन्द करूँगा कि जो समस्या नितान्त प्राकृतिक है, जिसके पीछे मानवी चेतना की कोई प्रवृत्ति संलग्न नहीं है, वह सामयिक समस्या है। सूखा पड़ा और अनाज की कमी हो गई। यह सामयिक समस्या है। इसी प्रकार पदार्थ के अभाव की जितनी समस्याएँ हैं, वे सब सामयिक या प्राकृतिक हैं।

समस्याओं के इस वर्गीकरण को मान लेने पर यह प्रमाणित होता है कि समस्याओं का मूल मानवीय मनोवृत्ति में है या प्रकृति के अंचल में है। वह समाज-व्यवस्था में नहीं है। सामाजिक व्यवस्था मात्र प्रतिफलन का क्षेत्र है, वहाँ दोनों प्रकार की समस्याएँ प्रतिफलित होती हैं।

समस्याएँ जहाँ प्रतिफलित होती हैं, वहाँ उनकी चिकित्सा नहीं हो सकती। चिकित्सा उनके मूल की हो सकती है। इसलिए समस्याओं की चिकित्सा के सूत्र दो हैं—मानसिक विकास और प्राकृतिक सम्पदा का विकास।

सामाजिक व्यवस्था को बदल देने से मानसिक अवस्था में क्षणिक परिवर्तन होता है, किन्तु मूल मनोवृत्ति क्षीण नहीं होती, इसलिए वह नये आकार में प्रकट हो फिर समस्या को उभार देती है। अणुव्रत का कार्यक्रम इस वास्तविकता पर आधृत होना चाहिए कि मनुष्य की मूल मनोवृत्ति का परिष्कार होने पर सामाजिक व्यवहार का परिष्कार सम्भव है।

●

अणुव्रत के भावी कार्यक्रम की रेखाएँ

अन्तर्जगत् और परिस्थितिवाद

अणुव्रत-आन्दोलन गुण-निष्ठा का आन्दोलन है। इसके प्रवर्तक का विश्वास है कि गुण का विकास होने से व्यक्ति या समाज का विकास होता है। भौतिक विकास से हमारा प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। इसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध चरित्र-विकास से है।

कुछ लोग चरित्र के ह्रास या विकास का हेतु परिस्थिति ही मानते हैं। किन्तु अणुव्रत दर्शन के अनुसार यह अभिमत यथार्थ नहीं है। परिस्थिति चरित्र के ह्रास या विकास का निमित्त बन सकती है पर वह चरित्र के ह्रास या विकास का उपादान-कारण नहीं है। उसका उपादानकारण है, व्यक्ति की आन्तरिक दुर्बलता या प्रबलता। आन्तरिक दुर्बलता अर्थात् चरित्र का ह्रास। आन्तरिक प्रबलता अर्थात् चरित्र का विकास। यह प्रत्यक्ष है कि जिनका मानस-बल सुदृढ़ होता है, वे प्रतिकूल परिस्थिति में भी चरित्र-सम्पन्न रहते हैं और जिनका मानस-बल सुदृढ़ नहीं होता, वे अनुकूल परि-स्थिति में भी चरित्र-विपन्न हो जाते हैं। मनुष्य में चरित्र की सम्पन्नता और विपन्नता—दोनों प्रकार के संस्कार संचित रहते हैं। बाहरी परिस्थिति की अपेक्षा आन्तरिक स्थिति प्रबल होती है तो चरित्र का विकास होता है। आन्त-रिक स्थिति दुर्बल होती है और बाहरी परिस्थिति प्रबल होती है तो चरित्र का ह्रास हो जाता है। हमारा निर्णय एकांगी नहीं होना चाहिए। आन्तरिक-शक्ति का कोई अस्तित्व ही नहीं, यह मानना जितना भूल-भरा है, उतना ही भूल-भरा यह है कि परिस्थिति मनुष्य के चरित्र को प्रभावित नहीं करती। सच यह है कि आन्तरिक संसार और बाहरी परिस्थिति—ये दोनों समु-चित रूप से चरित्र को प्रभावित करते हैं। इनकी मात्रा की तरतमता के अनुसार मानवीय चरित्र का विकास या ह्रास होता है।

धर्म की प्रेरकता

अपने आन्तरिक बल को विकसित करके ही मनुष्य अनैतिक कार्यों से बच सकता है, प्रतिकूल परिस्थितियों से जूझ सकता है। उसके विकास का साधन है धर्म। धर्म का लक्ष्य बहुत ऊँचा है। वह है श्रद्धामय, चिन्मय और आनन्दमय चैतन्य का साक्षात्कार। जो इस धर्म की आराधना करता है, वह अनीति और अचरित्र से स्वयं बचता है—दूसरे को उपकृत करने की दृष्टि से नहीं किन्तु स्वयं के हित-साधन की दृष्टि से। जो आदमी अनीति का व्यवहार करता है, चरित्र का लोप करता है, उसकी श्रद्धा टूटती है, ज्ञान आवृत्त होता है और आनन्द विघटित होता है; इसलिए धार्मिक मनुष्य ऐसा करना नहीं चाहेगा। जो ऐसा चाहता है, वह वस्तुतः धार्मिक नहीं है। जो मनुष्य चरित्र-विकास की ओर ध्यान न देकर केवल उपासना, अर्चना या पूजा करता है, वह धर्म के अन्तस्तल को नहीं छू पाता, केवल उसके उपकरणों को ओढ़े हुए फिरता है।

धर्म का स्वरूप संयम है। इसे अहिंसा भी कहा जा सकता है। सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह भी कहा जा सकता है। अकरणीय का आचरण नहीं किया जाता, वह संयम है। संयम की मर्यादा और भी आगे तक है। अकरणीय और करणीय दोनों से मुक्त हो जाना भी संयम है पर वह बहुत आगे की बात है। हमें वर्तमान में उतना ही सोचना चाहिए, जितना सम्भव हो। अनीति और अनाचार से बचना हर मनुष्य के लिए सम्भव है।

परिस्थिति-परिवर्तन

कोई भी आदमी अपने आस-पास की परिस्थिति की उपेक्षा नहीं कर सकता; सामाजिक आदमी तो कर ही नहीं सकता। वह उसे सुधारना चाहता है और उसे वह रूप देना चाहता है जो चरित्र-विकास में बाधक न बने।

कोई भी व्यवस्था, समाज-रचना, विधि-विधान या कृत-नियम शाश्वत नहीं होते। ये सामाजिक उपयोगिता पर आधृत होते हैं। देश-काल और मानस के परिवर्तन से उपयोगिता भी परिवर्तित होती रहती है और उसकी भित्ति पर खड़ी समाज-रचना भी। इसीलिए हम धर्म (जो शाश्वत मूल्य है) को समाज-रचना (जो अशाश्वत मूल्य है) का आधार नहीं मानते। हमारा मानना है कि धर्म से समाज-रचना में आने वाले

दोष दूर होते हैं। वह समाज की पवित्रता में सहायक बनता है। कुछ ऐसे भी प्रसंग हैं जहाँ आत्म-निर्माण और समाज-निर्माण में सामंजस्य नहीं बैठता। वहाँ धर्म समाज-निर्माण से विमुख होकर भी आत्म-निर्माण में सहयोगी बनता है। इसीलिए सामाजिक लोग धर्म को एक सीमित अर्थ में स्वीकार करते हैं। समाज में पवित्रता आए और उसका विघटन न हो, वहीं तक उसे मान्यता देते हैं। यह सीमित अर्थ में स्वीकृत धर्म ही अणुव्रत है। यह संयम-धर्म का असीम स्वीकार नहीं है। इसीलिए सामाजिक प्राणी धर्म और परिस्थिति-परिवर्तन दोनों को साथ लिए हुए चलते हैं। वर्तमान परिस्थिति जो है, वह चरित्र-विकास के अनुकूल नहीं है। इसी-लिए वर्तमान समाज-रचना में परिवर्तन लाना भी उसके लिए सहज प्राप्त है।

वर्तमान समाज-रचना के दोष

पूर्ण निर्दोष समाज-रचना सम्भवतः कभी नहीं होती। दोषों की मात्रा अल्प होती है तब समाज उन्हें पचा लेता है। उनकी मात्रा तीव्र हो जाती है तब वे समाज को व्यथित करने लग जाते हैं। वर्तमान समाज की व्यथा के प्रमुख हेतु दो हैं :

१. हिंसा-वृत्ति, २. संग्रह-वृत्ति।

पूर्ण अहिंसा और पूर्ण असंग्रह सामाजिक जीवन में सम्भव नहीं है। अर्थ-हिंसा या अनिवार्य-हिंसा मनुष्य की आवश्यकता है। पर अनर्थ-हिंसा या वार्य-हिंसा उसका प्रमाद है, मोह है। मनुष्य अपने-आपको सर्व-श्रेष्ठ मानता है इसलिए भी वह अनर्थ-हिंसा करता है। प्रत्याक्रमण अनर्थ-हिंसा नहीं है पर आक्रमण अवश्य ही अनर्थ-हिंसा है। जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति अनर्थ-हिंसा नहीं है पर सुख-सुविधा और आराम परक जीवन बिताने के लिए जीव-जन्तुओं का वध करना अवश्य ही अनर्थ-हिंसा है।

हिंसा जब अशक्यता मानी जाती है तब वह उग्र नहीं बनती और जब वह सामाजिक मानी जाती है उब उग्र बन जाती है। वर्तमान मानस का बहुत बड़ा दोष यह है कि वह हिंसा को स्वाभाविक या नैसर्गिक मानने लगा है।

जहाँ शरीर और मन हैं वहाँ अपेक्षाएं भी हैं। रोटी, कपड़ा, मकान, दवा आदि अनेक वस्तुएँ शरीर-धारण के लिए आवश्यक हैं। मान, प्रतिष्ठा आदि मानसिक अपेक्षाएँ हैं। इनकी प्राप्ति का कोई माध्यम भी आवश्यक है। वह धन है, इसलिए धन भी आवश्यक है। धन से मनुष्य का प्रत्यक्ष मोह नहीं है। प्रत्यक्ष मोह है—शरीर और मन की अपेक्षाओं की पूर्ति से। वह धन के द्वारा होती है, इसलिए धन से मोह है।

शारीरिक अपेक्षाओं और मानसिक आवेगों से कोई कैसे मुक्ति पा सकता है तो उनकी उपलब्धि के माध्यम को भी कोई कैसे छोड़ सकता है। यह अपने-आप में समस्या है। परन्तु जब मनुष्य शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए धन-संग्रह करता है, तब दोष की मात्रा अल्प होती है और जब वह मान, प्रतिष्ठा और बड़प्पन की भावना मे धन-संग्रह करता है, दोष की मात्रा प्रबल हो जाती है। वर्तमान समाज की सबसे बड़ी कठिनाई या सबसे बड़ा दोष यह है कि धन-संग्रह बड़प्पन के लिए अधिक किया जाता है।

निराकरण

इन दोषों के निराकरण का प्रयत्न केवल धार्मिक जगत् ने ही नहीं किया है, राजनयिकों ने भी किया है। इनसे केवल धार्मिक हानि ही नहीं होती है, सामाजिक और राजनीतिक कठिनाइयाँ भी बढ़ती हैं। इनका निराकरण दो मार्गों से किया गया गया है :

१. दण्ड-शक्ति के द्वारा, २. चरित्र-बल के द्वारा।

राज्य-संस्था दण्ड-शक्ति के द्वारा हिंसा और संग्रह को नियन्त्रित करती है। चरित्र-बल के द्वारा उन पर नियन्त्रण स्वयं व्यक्ति करता है। जो मनुष्य नहीं है या जिनकी हिंसा से मानव-समाज की कोई क्षति नहीं होती है, उन जीवों की हिंसा या अहिंसा का विचार राज्य-विधान की मर्यादा में नहीं है। वहाँ मनुष्य और मनुष्य की उपयोगिता से सम्बन्धित जीवों की हिंसा की वैधता और अवैधता पर विचार होता है।

मनुष्य की मूर्च्छा-वृत्ति पर राज्य-विधान का कोई चिन्तन नहीं होता। उसका चिन्तन चर-अचर सम्पत्ति के संग्रह के बारे में होता है। व्यक्तिगत सम्पत्ति का नियमन उसके द्वारा होता है। जितने भी तन्त्र हैं—भले फिर

वे पूंजीवादी हों या समाजवादी या साम्यवादी—वे सब निजी-सम्पत्ति पर न्यूनाधिक मात्रा में प्रत्यक्षत: या परोक्षत: नियन्त्रण रखते हैं।

चरित्र-बल का विकास होने पर मनुष्य केवल मानवीय हित ही नहीं सोचता, जीवमात्र की हित-चिन्ता करता है। उन जीवों की भी अकारण हिंसा से बचता है, जो मनुष्य के लिए उपयोगी भी नहीं हैं। अकारण किसी छोटे जीव की हिंसा को भी बहुत बड़ा पाप मानता है। उसके लिए किसी भी प्रकार की हिंसा वैध नहीं होती। अनिवार्य-हिंसा को वह जीवन की अशक्यता मानता है और शक्य हिंसा से बचने के लिए सावधान रहता है।

चरित्र-बल जब बढ़ता है तब आदमी केवल व्यक्तिगत संग्रह पर ही नहीं, मूर्च्छा पर भी नियन्त्रण पाने का प्रयत्न करता है। मूर्च्छा कम हो तो अभाव में भी भाव जैसी अनुभूति होती है और मूर्च्छा अधिक हो तो भाव में भी अभाव जैसी अनुभूति होती है। मूर्च्छा कम होती है तब संग्रह भी कम होता है और स्वेच्छापूर्वक संग्रह कम होता है, तब जानना चाहिए कि मूर्च्छा कम है।

अहिंसा का विकास और अमूर्च्छा का विकास—ये दो महान् गुण हैं। इनका यथेष्ट विकास होने पर ही उद्दंडता और संग्रह की समस्या का स्थायी समाधान हो सकता है। जिस व्यक्ति या समाज में इनका यथेष्ट विकास होता है, वही चरित्रवान् कहलाने का औचित्य पाता है।

अणुव्रत-आन्दोलन गुण-निष्ठा का आन्दोलन है। इसका अर्थ यही है कि वह अहिंसा और अमूर्च्छा में निष्ठा उत्पन्न करने का आन्दोलन है।

प्रयत्न और परिणाम

हिंसा और संग्रह की समस्या का समाधान पाने के लिए राजनयिक भी बराबर प्रयत्न करते रहे हैं। फिर भी कोई संतोषजनक समाधान हुआ नहीं है। उनका कोई दोष भी नहीं है। हिंसा और संग्रह—ये दोनों परस्पर इस प्रकार उलझे हुए हैं कि एक पर नियन्त्रण पाने के प्रयत्न में दूसरा भड़क उठता है। जनतन्त्र जहां व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखता है, वहां संग्रह की समस्या प्रबल हो उठती है और समाजवाद जहां संग्रह (निजी सम्पत्ति) पर नियन्त्रण करता है वहां व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की समस्या जटिल हो जाती है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का दमन किए बिना

संग्रह पर नियन्त्रण हो ऐसा मार्ग अभी राजनयिकों को नहीं सूझा है।

इस समस्या का एकमात्र समाधान चरित्र-विकास है। व्यक्ति अपनी पूर्ण स्वतन्त्रता से हिंसा को छोड़ना और संग्रह को कम करना चाहे—इसी का नाम है चरित्र-विकास। इसकी सिद्धि उच्च आदर्शों की कल्पना पर निर्भर है। व्यक्ति या समाज का आदर्श भौतिक समृद्धि ही रहता है। उस स्थिति में चरित्र-विकास नहीं हो सकता। विस्तार में उच्च आदर्श के अनेक रूप हो सकते हैं। संक्षेप में उसका एक ही रूप है। वह है स्वतन्त्रता। स्वतन्त्रता मनुष्य का सर्वोपरि आनन्द है, इसीलिए वह सर्वोपरि आदर्श है। यह तथ्य दार्शनिक और व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से समर्थित है।

स्वतन्त्रता और अध्यात्म में कोई अर्थ-भेद नहीं है। स्वतन्त्रता का अर्थ है बन्धन-मुक्ति। कृत्रिम या कल्पित बन्धन से मुक्ति होती है, वह स्वतन्त्रता हो सकती है, आध्यात्मिकता नहीं भी हो सकती। आन्तरिक बन्धन से मुक्ति हो तो—इच्छा, स्पर्धा, घृणा आदि भावनाओं एवं संवेगों से मुक्ति होती है। वह स्वतन्त्रता ही आध्यात्मिकता है।

आध्यात्मिक प्रेरणा ने जितना स्वतन्त्र व्यक्तित्व का निर्माण किया है, उतना अन्य किसी ने नहीं किया। उसमें आज भी वह क्षमता विद्यमान है। इसलिए आचार्यश्री तुलसी ने समस्याओं के समाधान के लिए उस चिरपुराण साधन को प्रस्तुत किया है। तेरह वर्षों की अवधि में अध्यात्म की दिशा में अनेक प्रयत्न हुए। उन्हें पूर्ण सफल नहीं कहा जा सकता तो असफल भी नहीं कहा जा सकता।

अध्यात्म की प्रेरणा से समूचा समाज संचालित नहीं होता। उससे कुछेक व्यक्ति या कुछेक वर्ग प्रभावित हो सकते हैं। इसलिए वह समाज-रचना का व्यावहारिक पक्ष नहीं है। अहिंसा, सत्य और अपरिग्रह के उच्च सिद्धान्त एवं यत्र-तत्र उनके आचरण से सामुदायिक समस्या का समाधान नहीं होता। ये विकल्प सहज ही उठते हैं। इनमें आंशिक सचाई भी है। अध्यात्म से सारी समस्याओं का समाधान हो सकता है—यह मानना निर्दोष भी नहीं है। बहुमुखी समस्या का समाधान भी बहुमुखी ही हो सकता है। आर्थिक अभाव की समस्या अध्यात्म से कभी पूरी नहीं हो सकती। अर्थार्जन के दोषपूर्ण साधनों की समस्या अध्यात्म से समाहित हो

सकती है पर वह भी अमर्यादित रूप में नहीं हो सकती। जितने व्यक्ति या वर्ग उससे प्रेरित होते हैं, उतनी ही सीमा में वह हो सकती है। इसलिए यह कल्पना करना कि अणुव्रत-आन्दोलन के द्वारा सारी समस्याएँ सुलझ सकती हैं—मेरी समझ में अतिकल्पना है। हमें अणुव्रत-आन्दोलन को इस सचाई के आधार पर चलाना चाहिए कि हिंसा से सारी समस्याओं का समाधान नहीं होता। भय, स्पर्धा, घृणा, मूढ़ता, द्वेष, आक्रमण, शोषण, तिरस्कार, अपमान, शोक, दुश्चिन्ता, गर्व, कपट, विश्वासघात आदि-आदि हिंसक प्रवृत्तियों से ही अनेक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं और इन्हीं से वे चिरजीवी बनती हैं। मनुष्य-समाज वस्तुओं के अभाव से उतना आक्रान्त नहीं है, जितना इनसे है। इनका समाधान केवल अध्यात्म है। दूसरा कोई विकल्प नहीं। इसलिए अणुव्रत आन्दोलन को आध्यात्म-विकास की दिशा में सतत प्रयत्नशील रहना चाहिए।

राजनीति, शासन-प्रणालियाँ, व्यवस्था, शस्त्र और युद्ध हजारों वर्षों से चल रहे हैं, उनसे भी समस्याओं का समाधान नहीं हुआ है। बौद्धिकता और वैज्ञानिकता के आवरण में उनके रूप-परिवर्तन हुए हैं पर वे नष्ट नहीं हुई हैं। कहीं-कहीं विकसित ही हुई हैं। फिर भी राजनीति आदि को चलाना चाहिए और आध्यात्मिक प्रवृत्तियों से सामूहिक परिवर्तन नहीं हो तो सारी समस्याओं का समाधान नहीं होता, इसलिए उन्हें नहीं चलाना चाहिए, यह तर्क स्वयं में भ्रान्त है। दैहिक और आर्थिक समस्याओं का समाधान पाने के लिए यदि शासन-व्यवस्था आवश्यक है तो मानसिक और चारित्रिक समस्याओं का समाधान पाने के लिए अध्यात्म का विकास आवश्यक है। सारी समस्याओं का समाधान किसी से भी नहीं होता पर अपने-अपने प्रकार की समस्याओं का समाधान करने की क्षमता दोनों में है। इसलिए हम किसी को भी पूर्ण या अपूर्ण नहीं कह सकते। पूर्णता का अर्थ अनाधिकार है भी नहीं। हमें दोनों के कार्य-कारण-भेद को समझकर इस तर्क-दोष से बचना चाहिए।

अध्यात्म-जागरण के लिए अनेक धर्म, सम्प्रदाय प्रयत्नशील हैं। फिर भी इस आन्दोलन की स्थिति उनसे भिन्न है। इसमें सब धर्मों के ग्राह्य तत्त्व हैं और यह स्वयं सम्प्रदाय-मुक्त है, इसलिए यह जन-मानस का अधिक

स्पर्श कर सकता है।

आन्दोलन के माध्यम से अब तक इन दिशाओं में विशेष प्रयत्न किए गए :

१. मिलावट-निषेध, २. रिश्वत-निषेध, ३. चोर-बाजारी का निषेध ४. मद्यपान-निषेध, ५. तौल-माप की अप्रामाणिकता का निषेध।

वर्गीय दृष्टि से विशेष प्रयत्न विद्यार्थी, व्यापारी, मजदूर और राज्य-कर्मचारी वर्गों में हुए।

क्षेत्रीय दृष्टि से थोड़े बहुत प्रयत्न हिन्दुस्तान के लगभग सभी प्रान्तों में हुए।

फिर भी जितना और जैसा प्रयत्न होना चाहिए, उतना और वैसा नहीं हुआ, उसके कुछ हेतु ये हैं :

१. वर्तमान जीवन की पवित्रता पर आधृत विचार-प्रतिष्ठा पर दृढ़ आस्था का अभाव।

२. आन्दोलन की साधुओं पर निर्भरता, गृहस्थ कार्यकर्ताओं की अल्पता।

३. प्रशिक्षण की व्यवस्था का अभाव।

४. चारित्रिक पाठ्यक्रम का अभाव।

५. जनता के समक्ष प्रयोग प्रस्तुत करने वाले प्रयोक्ताओं का अभाव।

अणुव्रत-आन्दोलन को चरित्र-विकास का प्रभावशाली माध्यम बनाने के लिए उक्त अभावों की पूर्ति आवश्यक है।

पूर्ति की प्रक्रिया

१. शाश्वत मूल्यों के प्रति जनता का जो आकर्षण है, वह भावी जीवन की सुख-प्राप्ति से अधिक सम्बद्ध है। वह अपूर्ण है। वर्तमान जीवन की शान्ति और पवित्रता के बिना भावी जीवन सुखी नहीं हो सकता—इस विचार की प्रबल प्रतिष्ठा और उसके प्रति आस्था उत्पन्न करने के लिए एतद्-विषयक साहित्य का निर्माण (पाँच वर्षों में सौ पुस्तकों का निर्माण) आवश्यक है।

सभी धार्मिकों को हम इस चर्चा के प्रसार के लिए प्रेरित करें और

इस विचार को प्रत्येक धार्मिक तक पहुंचाने का सतत प्रयत्न करें।

२. (क) प्रति वर्ष पांच केन्द्रीय कार्यकर्ताओं का इस कार्य में सहयोग प्राप्त होना चाहिए। वे संयमी जीवन के प्रति आस्थावान् हों और दूसरों में आस्था भरने में भी क्षम हों।

(ख) वे प्रशिक्षित भी होने चाहिए। चारित्रिक प्रशिक्षण देने में शिक्षकों का सहयोग प्राप्त करना और वैसे व्यक्ति कम मिलें तो उनकी पूर्ति का लक्ष्य भी आवश्यक है।

(ग) अब तक जो कार्यकर्ता हैं उनमें साठ प्रतिशत तेरापंथी हैं। अणुव्रत-आन्दोलन जब सम्प्रदायातीत है और आन्दोलन के सामने तेरापंथी या अन्य किसी का कोई भेद नहीं है तब दूसरे कार्यकर्ताओं का आधिक्य होना बहुत अपेक्षित है।

(घ) प्रत्येक गांव में चारित्रिक-प्रवृत्ति के संचालन के लिए स्थानीय कार्यकर्ताओं का समन्वय अपेक्षित है। बाहर से आकर कुछ लोग यदा-कदा प्रेरक बन सकते हैं पर स्थायी कार्य का संचालन नहीं कर सकते।

(ङ) स्थानीय कार्यकर्ताओं का समायोजन करना केन्द्रीय कार्यकर्ताओं का कर्तव्य होगा।

(च) केन्द्रीय और स्थानीय कार्यकर्ताओं के प्रशिक्षण का एक सामान्य मानदण्ड भी आवश्यक है।

३. वर्ष में चार प्रशिक्षण-शिविर लगने चाहिए। उनमें अणुव्रत कार्यकर्ता तथा विद्यार्थी या अन्य वर्ग के लोग जो सम्मिलित होना चाहें उन्हें चारित्रिक विकास की पद्धतियों का प्रशिक्षण देना चाहिए और ऐसा भी प्रयत्न अपेक्षित है कि अध्यापक और राज्य-कर्मचारी भी चारित्रिक प्रशिक्षण लें।

व्यक्ति-निर्माण आन्दोलन का प्रमुख लक्ष्य है। प्रशिक्षण के द्वारा समाज में अधिक से अधिक सच्चे और प्रामाणिक लोग उत्पन्न होंगे।

४. आन्दोलन के द्वारा यह प्रयत्न होना चाहिए कि प्रत्येक राज्य-सरकार और केन्द्रीय सरकार भी अपने शिक्षाक्रम में चारित्रिक पाठ्यक्रम का समावेश करे। आन्दोलन को सर्वोपयोगी चारित्रिक पाठ्यक्रम के निर्माण की ओर भी ध्यान केन्द्रित करना चाहिए।

चारित्रिक और नैतिक मूल्यों के प्रति भारतीय विद्यार्थी का कोई निश्चित दृष्टिकोण ही नहीं बनता। उसे उसकी कोई शिक्षा भी नहीं मिलती। दृष्टिकोण के अभाव में अधिक लोग चारित्रिक निर्माण में अनास्थावान् हों तो आश्चर्य की बात नहीं। किन्तु दृष्टिकोण का निर्माण होने पर कम-से-कम पचास प्रतिशत व्यक्ति तो चारित्रिक मूल्यों के प्रति आस्थावान् हो सकते हैं।

५. अणुव्रत-प्रयोग-भूमि की अपेक्षा भी कम नहीं जान पड़ती। प्रयोग-सिद्ध ज्ञान में अधिक सचाई प्रस्फुटित हो सकती है। भौतिक प्रयोगों की वेला में व्रत का विचार अप्रयुक्त होकर टिक पाएगा, यह अवश्य चिन्तनीय है। सामाजिक प्राणी सादगी, प्रामाणिकता, अल्प-आरम्भ और अल्प-संग्रह का जीवन जी सकता है और विलासी, अप्रामाणिक, बहुआरम्भी और बहुपरिग्रही जीवन से अधिक सुखी जीवन जी सकता है—उसकी प्रायोगिक पद्धति, उसका मानसिक प्रभाव और विश्लेषण, वैसे मानस के निर्माण की प्रक्रिया—इन सभी का प्रत्यक्षीकरण आवश्यक है। परोक्ष विचार मानवीय स्वभाव का अधिक स्पर्श नहीं कर सकता।

अनेक लोग चाहते हैं और परामर्श देते हैं कि अणुव्रत-आन्दोलन का रचनात्मक पक्ष विकसित होना चाहिए। पर मैं नहीं समझ पाया वह रचनात्मक पक्ष क्या है? खादी बनाना आदि-आदि जो प्रवृत्तियाँ हैं वे सादगी और प्रामाणिकता में सहज ही फलित होने वाली प्रवृत्तियाँ हैं। उनके लिए हमें अणुव्रत-आन्दोलन चलाना आवश्यक नहीं है। आन्दोलन का मुख्य कार्य मनुष्य-स्वभाव की स्वस्थ-रचना होना चाहिए। उसकी सर्वाधिक अपेक्षा है। एक आदमी खादी बनाने व पहनने पर भी चारित्रिक नहीं हो सकता, दूसरा व्यक्ति खादी न बनाने, न पहनने पर भी चारित्रिक हो सकता है यदि उसके स्वभाव का स्वस्थ-निर्माण हो जाता है।

प्रचलित भाषा में जो रचनात्मक प्रवृत्तियाँ हैं, उनसे आन्दोलन का कोई विरोध नहीं है। अणुव्रती अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए उनका संचालन भी करते हैं पर आन्दोलन का जो मूल लक्ष्य है, उसे गौण कर उन्हें प्राधान्य नहीं दिया जाना चाहिए।

●

अणुव्रत का सप्तसूत्री कार्यक्रम

हम करें क्या ? यह प्रश्न सदा से अनुत्तरित रहा है। इसका उत्तर केवल उन्हीं लोगों को मिला है, जिन्होंने कुछ किया है। अणुव्रत के मंच पर भी यदा-कदा यह स्वर सुनाई देता है—अणुव्रत-कार्यकर्ता करे क्या ? उसके सामने कोई निश्चित कार्यक्रम नहीं है।

दो प्रकार के लोग होते हैं। पहले प्रकार के लोग वे हैं, जो चलते हैं और उनके चलने के साथ-साथ मार्ग बन जाता है। दूसरे प्रकार के लोग वे हैं, जो बने-बनाए मार्ग पर चलते हैं। कार्यकर्ता भी दो कोटि के होते हैं। कुछ वे, जिनके स्पन्दन से कार्यक्रम अपने-आप फलित हो जाता है और कुछ वे जो पहले कार्यक्रम निश्चित करते हैं और फिर कुछ करते हैं।

बहुत दिनों से चर्चा चल रही थी कि अणुव्रत-कार्यकर्ताओं के लिए कार्यक्रम की कुछ रेखाएं निश्चित की जाएं पर वैसा हो नहीं सका। इस बार आचार्यश्री गंगानगर क्षेत्र की यात्रा पर थे। वहां अणुव्रत के प्रति बौद्धिक वर्ग बहुत आकृष्ट हुआ। अनेक स्थानों में अणुव्रत-समितियां स्थापित हुई। कार्यक्रम की चर्चा भी चलती रही। उस चर्चा में से सहज ही सप्त-सूत्री कार्यक्रम फलित हो गया। अभी-अभी अणुव्रत साधना शिविर सरदारशहर के अवसर पर आचार्यश्री ने उसका प्रतिपादन किया था। उसकी व्याख्या का दायित्व मैंने अपने पर ओढ़ा है।

सात सूत्र

१. संयम

२. साधना

३. सहयोग

४. श्रम

५. संचार

६. संगठन

७. समर्पण

संयम

इस कार्यक्रम का पहला अंग है, स्वयं अणुव्रती बनना और दूसरों को बनाना। अब तक मुख्य रूप से यही कार्य चलता रहा है। यह आधारभूत कार्य है, इसलिए इसका चलना आवश्यक था और आज भी है। किन्तु अणुव्रती बनने-बनाने का दृष्टिकोण व्यावहारिक होना चाहिए। अणुव्रत की आचार-संहिता का पालन करने में आपको कोई कठिनाई नहीं होगी, इस आधार पर अणुव्रती बनाने का अर्थ संख्या-वृद्धि हो सकता है, तेजस्विता की वृद्धि नहीं हो सकता। इस आचार-संहिता के पालने से आपको कठि-नाइयां झेलने की क्षमता प्राप्त होगी, इस आधार पर अणुव्रती बनाने का अर्थ अणुव्रत की तेजस्विता प्रकट करना होगा। यदि अणुव्रती समाज अकर्मण्य लोगों का समाज हुआ तो वह परिस्थिति को प्रभावित नहीं कर सकेगा, फिर उसका अस्तित्व हो या न हो। अणुव्रती-समाज उन लोगों का समाज होना चाहिए, जो अनैतिकता की ओर से आने वाली हर चुनौती को झेल सकें। किसी व्यक्ति को अणुव्रती बनाने से पूर्व उसका ध्यान अणुव्रत के सम्यग्-दर्शन की ओर आकृष्ट करना आवश्यक है। इस सम्यग्-दर्शन के चार अंग हैं :

१. मानवीय एकता

२. मानवीय समता

३. मानवीय स्वतन्त्रता

४. सह-अस्तित्व

हम प्राणीमात्र की सहज एकता में विश्वास करते हैं पर मानवीय एकता पर विशेष ध्यान केन्द्रित करना इसलिए आवश्यक है कि सामा-जिक सम्पर्कों का केन्द्र मनुष्य है। अनैतिक या नैतिक व्यवहार उसी के प्रति होता है। नैतिकता की प्रेरणा आन्तरिक पवित्रता है। वह इस सम्यग्-दर्शन की निष्ठा से उद्‌बुद्ध होती है। इसलिए हम यह मानकर चलें कि अणुव्रती बनाना द्वयम है, प्रथम है सम्यग्-दर्शन की निष्ठा पैदा करना।

साधना

व्रत या संकल्प साध्य की ओर चलने का आरम्भ है, किन्तु पहुंच नहीं है। पहला चरण उठाने और पहुंचने में जो दूरी है, उसका अन्त साधना से होता है। संकल्प-सिद्ध अणुव्रती में वह तेज नहीं होता, जो सिद्ध अणुव्रती में होता है। इसीलिए बहुत चिन्तन-मनन के बाद इस वर्ष आचार्यश्री ने यह निश्चित किया कि अणुव्रती शिविर-जीवन में साप्ताहिक साधना करेगा।

अणुव्रत-साधना का मुख्य रूप मानसिक शिक्षण है। मन को शिक्षित करने के लिए शरीर, वाणी और श्वास को साधना आवश्यक है। इस परिक्रमा में मानसिक शिक्षण के ये घुमाव होते हैं :

१. आसन, २. मौन, ३. जप, ४. स्वाध्याय, ५. श्वास-विजय, ६. कायोत्सर्ग-शिथिलीकरण, ७. ध्यान, ८. संकल्प, ९. खाद्य-संयम, १०. मैत्री।

इनकी साधना सात दिन तक चले, यह पर्याप्त नहीं है। साप्ताहिक साधना का अर्थ है कि उस अवधि में अणुव्रती प्रशिक्षण ले, अभ्यास और प्रयोग करे, फिर वह साधना उसकी दैनिक-चर्या का प्रभावशाली अंग बन जाए।

साधना के बिना व्रत की सिद्धि नहीं होती, यह मानने में कोई कठिनाई नहीं है। इस साधना-क्रम को विकसित करने के लिए ऐसे सैकड़ों प्रशिक्षकों की आवश्यकता होगी, जो हजारों-हजारों अणुव्रतियों को दक्षता के साथ प्रशिक्षित कर सकें।

सहयोग

सामाजिक जीवन का मूल सूत्र परस्परावलम्बन है। परस्परावलम्बन का अर्थ है सहयोग लेना और देना। जो व्यक्ति समाज से सहयोग लेना नहीं जानता, वह भी असामाजिक है और जो सहयोग देना नहीं जानता, वह भी असामाजिक है। असामाजिकता के चक्र में सहानुभूति पैदा नहीं होती, इसलिए नैतिक विकास कुण्ठित हो जाता है।

अणुव्रती का ध्येय है कि सब लोग अणुव्रती बनें, नैतिक बनें। जनता तक अणुव्रत की भावना पहुंचने पर इस ध्येय की पूर्ति हो सकती है। इस

भावना को पहुंचाने का सहज-सरल मार्ग सामाजिक सहयोग है। एक ज़माने में 'सेवा' शब्द बहुत चलता था। आज उसकी अभिव्यक्ति में थोड़ा अन्तर आ गया है। एक व्यक्ति के अहं और दूसरे के दैन्य का अर्थ उसके साथ जुड़ गया है। इसलिए उसका स्थान अब 'सहयोग' शब्द ले रहा है, इसमें सह शब्द ऐसा है, जो अपेक्षा रखने वाले और उसे पूरा करने वाले दोनों को एक साथ रखता है, हीन व उच्च नहीं होने देता। सहयोग के मुख्य क्षेत्र चार हैं :

१. जीविका
२. शिक्षा
३. स्वास्थ्य
४. अभय

इन्हें पुराने आचार्यों ने दान-चतुष्टयी कहा था, जैसे :

१. अन्न-दान
२. ज्ञान-दान
३. औषध-दान
४. अभय-दान

यह वर्ग जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं का है। इन प्राथमिक आवश्यकताओं के साथ दान, सेवा आदि जुड़ गए, इसलिए ये समाज-अस्तित्व के अभिन्न अंग रूप में नहीं रह सके। मानव के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करने व उसकी सहानुभूति प्राप्त करने का सहज मार्ग सामाजिक सहयोग है। यह अणुव्रत भावना के प्रसार का भी शक्तिशाली माध्यम बन सकता है।

श्रम

स्वावलम्बन नैतिक जीवन की पहली शर्त है। समाज की भूमिका में स्वावलम्बन का अर्थ यह नहीं होता कि मनुष्य दूसरों का सहयोग ले ही नहीं। मेरी सम्मति में उसका अर्थ यही होना चाहिए कि मनुष्य अपनी शक्ति का संगोपन न करे, जिस सीमा तक अपनी आवश्यकताओं को पूरा कर सके, करे तथा विलासी जीवन को उच्च और श्रम-रत जीवन को हेय न माने।

विलास व आराम के प्रति मनुष्य का झुकाव सहज ही होता है और इस धारणा से उसे पुष्टि मिल जाती है कि श्रम करने वाला छोटा होता है। परावलम्बी जीवन का यही आधार है।

स्वावलम्बन (अपनी श्रम-शक्ति) का अनुपयोग और परावलम्बन (दूसरों की श्रम-शक्ति) का उपयोग शोषणपूर्ण जीवन का आरम्भ-बिन्दु है। शोषण अनैतिकता की जड़ है। अणुव्रती चाहता है कि समाज में शोषण न रहे। अतः उसके लिए यह प्राप्त होता है कि वह स्वावलम्बन या श्रम की भावना को जन-जन तक पहुंचाए।

अणुव्रती कार्यकर्ता स्वावलम्बी केन्द्रों की स्थापना पर विचार कर रहे हैं पर उन्हें बहुत स्पष्ट हो जाना चाहिए कि श्रम या स्वावलम्बन का कोई अतिरिक्त मूल्य नहीं है। यह जीवन का स्वाभाविक मूल्य है। इसे अतिरिक्त मूल्य दिए जाने की स्थिति में यह जीवन में प्रतिष्ठित नहीं होता, बल्कि जीवन पर समारोपित होता है।

संचार

गंगा का उद्गम व्यापक नहीं है पर उसका जल संचरणशील है, इस लिए वह बहुत बड़े क्षेत्र में व्याप्त है। संचरण का यह एक प्रकार है।

फूल की सुगन्ध स्वतः संचरणशील नहीं है। हवा उसे दूर-दूर तक ले जाती है। संचरण का यह दूसरा प्रकार है।

अगरबत्ती जलती है और गंध महक उठती है। संचरण का यह तीसरा प्रकार है।

अणुव्रत एक अनुशासन है। यह किसी दूसरे व्यक्ति द्वारा कृत अनु-शासन नहीं है। यह हर व्यक्ति का अपना अनुशासन यानी आत्मानुशासन है। बहुत लोगों को यह ज्ञात नहीं है कि उनमें अनुशासन की क्षमता है। इसलिए उन्हें अपनी शक्ति का भान कराना आवश्यक है। यही अणुव्रत का संचार या प्रचार कार्यक्रम है। व्यवस्था-परिवर्तन के द्वारा व्यक्ति-व्यक्ति में अणुव्रत-अनुशासन प्रवाहित हो जाए, यह संचार का पहला क्रम है।

अणुव्रत-अनुशासन को साहित्य, प्रवचन आदि के द्वारा जन-जन तक पहुंचाया जाए, यह संचार का दूसरा क्रम है।

युग की चुनौतियों को झेलकर अणुव्रत-अनुशासन को प्रदीप्त किया जाए, यह संचार का तीसरा क्रम है।

यथा समय ये तीनों ही आवश्यक हैं। कुछ लोग संचार को अनावश्यक मानते हैं। उनका ऐसा अभिमत शायद इसीलिए बना कि उन्हें पग-पग पर वाचिक संचार अधिक मिलता है। वाचिक और कार्मिक दोनों माध्यम साथ-साथ चलें तो संचार को अनावश्यक मानने का कोई कारण दिखाई नहीं देता।

अणुव्रती कार्यकर्ता को एकांगी नहीं होना चाहिए, केवल परिस्थिति-परिवर्तन, केवल वाचिक और केवल कार्मिक को परिपूर्ण नहीं मानना चाहिए। संचार का कार्यक्रम तीनों के योग से ही परिपूर्ण हो सकेगा।

संगठन

संगठन सभी कार्यक्रमों का कार्यक्रम है। कर्मजा शक्ति की उपलब्धि और उसका उपयोग, ये दोनों संगठन के माध्यम से होते हैं। अतएव हर प्रवृत्ति के साथ एक संगठन खड़ा हो जाता है। अणुव्रतियों का एक संगठन है। उसकी अपनी विशेषता यह है कि वह जाति एवं सम्प्रदाय की सीमा से मुक्त है। अणुव्रत-संगठन के केन्द्र में आचार्यश्री तुलसी हैं। अणुव्रतियों को एक संगठन-सूत्र में पिरोए रखने का दायित्व केन्द्रीय अणुव्रत समिति पर है। उस समिति ने प्रान्तीय एवं क्षेत्रीय समितियों को संगठित करने का यत्न प्रारम्भ किया है।

अणुव्रत-संगठन अभी तक बहुत प्राणवान् नहीं है। अणुव्रती कार्यकर्ता जो हैं, वे अपनी-अपनी समस्याओं में उलझे हुए हैं। जिनका मनोयोग अणुव्रत की व्यापकता में संलग्न हो, जिनका मानस अणुव्रत की चिन्ता में परिव्याप्त हो, ऐसे कार्यकर्ता अणुव्रत को अभी नहीं मिले हैं, या विरल मिले हैं। इसीलिए अणुव्रत के प्रसार की जो आवश्यकता है, उसकी पूर्ति नहीं हो रही है।

अणुव्रत की अधिकांश प्रवृत्तियां साधु-साध्वियों द्वारा चल रही हैं। यह अच्छी बात है। ऐसे निस्पृह कार्यकर्ता किसी प्रवृत्ति को सौभाग्य से ही प्राप्त होते हैं पर उनकी कुछ सीमाएं हैं। अपना कार्यक्रम भी है। अपनी साधना की निश्चित रेखाएं भी हैं। इसलिए अणुव्रत केवल उनके

योगदान पर निर्भर नहीं रह सकता। उसे ऐसे गृहस्थ कार्यकर्ता चाहिए, जो आत्म-निष्ठा से अणुव्रती और अणुव्रत के प्रवक्ता हों। अभी-अभी अणुव्रत-साधना-शिविर (दिल्ली) के समय अणुव्रत-कार्यकर्ता इस निर्णय पर पहुंचे थे कि अणुव्रतियों के अतिरिक्त अणुव्रत-सहायकों व अणुव्रत-समर्थकों का भी विधिवत् संग्रह होना चाहिए। यह कार्य सरल तो नहीं है, पर बहुत-बहुत उपयोगी है। प्रामाणिकता व सचाई में विश्वास व साधना में रुचि रखने वाले लोग कम नहीं हैं। आज भी हिन्दुस्तान में ऐसे लोग बहुत संख्या में हैं। किन्तु उनके मध्य एक शृंखला-सूत्र नहीं है, इसलिए उनकी निष्ठा से शक्ति-संवर्धन नहीं हो रहा है। अणुव्रत के कार्यकर्ताओं ने इस अभाव की पूर्ति की तो यह अपने-आप में बहुत बड़ा काम होगा।

समर्पण

भगवान् के प्रति समर्पण करने की पद्धति बहुत पुरानी है और अनेक धर्म-संस्थाओं में उसका प्रचलन है। आज जन-हित के लिए समर्पण की पद्धति अपेक्षित है। जन-हित का अर्थ आत्म-हित की विमुखता नहीं है। जो व्यक्ति आत्म-हित के माध्यम से-जन-हित में प्रवृत्त होता है, वही वास्तव में जन-हित कर सकता है।

आत्मानुशासन के विकास के लिए अपना समर्पण बहुत बड़ी साधना है, बहुत बड़ा विसर्जन है। इस कार्य के लिए सीमित समय—एक मास, दो मास आदि का समर्पण किया जा सकता है और कोई चाहे तो लम्बे समय का भी किया जा सकता है।

अणुव्रत को ऐसे समर्पित कार्यकर्ताओं की बहुत अपेक्षा है। कार्य के प्रति समर्पित लोगों से जो कार्य निष्पन्न होता है, वह अन्य लोगों से नहीं हो सकता। मनुष्य की सामान्य प्रकृति अपनी स्वार्थ-साधना में संलग्न होती है। वह जैसे-जैसे आत्म-सम्मुख होता है, वैसे-वैसे परमार्थ की साधना में लग जाता है।

अणुव्रत-शिविर तथा विविध विचार-गोष्ठियों के द्वारा जो लोक-चेतना का निर्माण हो रहा है, उसमें से समर्पण की प्रक्रिया आगे बढ़ेगी, ऐसा प्रतीत होता है। अणुव्रत-कार्यकर्ताओं का यह पवित्र कर्तव्य है कि वे लोगों को समर्पण के लिए प्रोत्साहित करें। प्रोत्साहन देना कठिन, प्रोत्सा-

हित होना कठिनतर और समर्पित लोगों की मनः-स्थिति को सँभाले रहना कठिनतम कार्य है। आत्म-विश्वास के अभाव में कठिन कार्य कठिनतम और कठिनतम कार्य असंभव हो जाता है। आत्म-विश्वास की स्थिति में कठिनतम कार्य भी सरल हो जाता है। अणुव्रत आत्म-विश्वास का व्रत है। इसकी पीठिका पर सप्तसूत्री कार्यक्रम का विस्तार सहज-भाव से किया जा सकता है।

●

अणुव्रत-साधना का अर्थ

व्रत साहित्य नहीं है, किन्तु वह साहित्य नहीं है यह कहना भी कठिन है। है और नहीं परस्पर जुड़े हुए हैं, उन्हें सर्वथा विभक्त करना मानव-शक्ति से परे है। साहित्य उद्बुद्ध चेतना का सरस परिपाक है। पर इससे पहले व्रत की आवश्यकता है क्योंकि व्रत में शासन और त्राण-शक्ति होती है। शास्त्र का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ यही है—'शासनात् त्राण शक्तेश्च शास्त्रम्'। आज शास्त्र का रूप शस्त्र ने ले लिया है इसीलिए नृशंसता का विकास हुआ है।

भगवान महावीर ने कहा—अत्थि सत्थं परं परेण नत्थि असत्थं परं परेण।' शस्त्र में स्पर्धा होती है। एक मारक शस्त्र आज नया निकला है। दूसरे दिन फिर उससे अधिक मारक और तीसरे दिन उससे भी अधिक संहारक। इस प्रकार शस्त्र में स्पर्धा बढ़ती जाती है। अशस्त्र त्याग में कोई स्पर्धा नहीं होती।

शास्त्र में जब तक सुरक्षा की कल्पना थी तब तक मनुष्य अभय था। जब उसका आरोप शस्त्र में हो गया तब वह भयभीत हो गया। उसे कवच की आवश्यकता हुई। एक समय में किले कवच के रूप में निर्मित किए गए थे। उनमें त्राण-शक्ति थी। अणुबम के युग में उनमें वह शक्ति नहीं रही। आज कहीं भी त्राण नहीं दीख रहा है। सही तो यह है कि बाहर कहीं त्राण है भी नहीं। अपना त्राण अपने में है। उसी का नाम है—व्रत। व्रत का अर्थ है—संवरण। जो अपने-आप में संवृत है उसे बाह्य शक्ति असुरक्षित नहीं बना सकती। जो अपने-आप में संवृत नहीं, वह अणुबमों से परिवृत होकर भी सुरक्षित नहीं रह पाता। अणुव्रत का लक्ष्य है—मनुष्य में सहज त्राण और शासन-शक्ति का विकास हो।

भौतिक पदार्थ, जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक होते हैं। वे अनावश्यक ही हैं, ऐसा नहीं कह सकते पर उनके प्रति अति आकर्षण बढ़ा है, वह आदेय नहीं है। पदार्थों का अतिभोग नृशंसता को बढ़ाता है इसलिए जीवन में

न्यूनतम संयम तो होना ही चाहिए। उसके बिना मानव मानव कैसे रह पाएगा ?

आज पदार्थ, शिक्षा और कला का जितना विकास हुआ है उतना संयम का नहीं। इसके दो कारण हो सकते हैं। एक तो पदार्थों की दुनिया में फिसलन है। दूसरा साधना करने वाले लोग भी संयम का मर्म उतना नहीं जानते जितना जानना चाहिए। संयम में समभाव है। उसका आनन्द यदि एक बार भी हृदय को छू लेता है तो वह छूटता नहीं। एक बार भी उसका स्पर्श न हो तब चरित्र-विकास कैसे हो ?

विद्यार्थी स्कूल में प्रवेश करता है। एम० ए० तक उसको शिक्षा मिलती है। क़ानून, विज्ञान आदि अनेक विषयों की शिक्षा मिलती है पर जीने की शिक्षा नहीं मिलती। उसके बिना आनन्द नहीं आता। उसके बिना जीवन व्यर्थ है।

आत्म-शासित और आत्म-संवृत होने से आनन्द मिलता है। जो स्वयं नियंत्रित नहीं होता उसका स्वतन्त्र अस्तित्व भी नहीं होता।

हवा गर्मी में गर्म हो जाती है और थोड़ी वर्षा होते ही वही ठण्डी हो जाती है। सर्दी और गर्मी के रूप में उसका स्वतन्त्र अस्तित्व कुछ नहीं है। अनियन्त्रित मनुष्य का भी स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता। वह दूसरों के हाथ का खिलौना बना रहता है। दूसरा जब चाहे थोड़ी प्रशंसा करके उसको अपने वश में कर लेता है और प्रतिकूल आचरण कर उसे कुपित कर देता है। उसका अपना स्वरूप कुछ नहीं होता।

अणुव्रत-साधना का अर्थ है—अपने पर शासन करने की कला का विकास। जो ऐसा कर पाता है उसे कठिन-से-कठिन परिस्थिति भी डिगा नहीं सकती। फिसलन, भय और आवेग में भी वह सन्तुलन रख सकता है।

अणु-ज्योति

बीसवीं शताब्दी अणु की शताब्दी है। उसकी शक्ति का स्फोट हो चुका है। जगत् विस्मित है कि अणु के सामने स्थूल नत-मस्तक है। अणु की ज्योति सर्वत्र संसरण पा रही है। शक्ति शक्ति है। इससे आगे वह कुछ नहीं है। उसका उपयोग कहां हो? कैसे हो? क्यों हो? यह सब व्यक्ति पर निर्भर है। संरक्षण भी शक्ति से होता है और विध्वंस भी शक्ति से होता है। और इसीलिए होता है कि शक्ति अपने-आप में शक्ति ही है, और कुछ नहीं।

आज का मनुष्य अणु-शक्ति का उपयोग कर रहा है तो दुरुपयोग भी कर रहा है। हर चिन्तनशील व्यक्ति चाहता है उसका उपयोग-भर हो, दुरुपयोग न हो। इस चाह का जो उत्तर है, वह अणुव्रत है, उसकी ज्योति अणु-ज्योति है।

कर्म आस्था के पीछे-पीछे चलता है। प्रेरक-शक्ति आस्था में है, कर्म निरा प्रेरित है। हम यह न देखें कि कर्म किधर जा रहा है? हम देखें कि आस्था किधर जा रही है? आज आस्था का अनुबन्ध अणु-अस्त्र से हो रहा है। उसमें सुरक्षा का आश्वासन दीख रहा है। जिसके पास अणु-अस्त्र हैं, वह अजेय है। जिसके पास अणु-अस्त्र नहीं हैं, वह भय-भीत है।

हम चाहते हैं, जन-जन अणुव्रत के प्रति आस्थावान हो। नैतिकता में आश्वासन की शक्ति प्रादुर्भूत हो तो ऐसा हो सकता है। आश्वासन-विहीन व्यक्ति या वस्तु के प्रति आस्था उद्‌बुद्ध नहीं होती।

इस बिन्दु पर सहज ही जिज्ञासा उभर आती है, क्या नैतिकता में आश्वासन-शक्ति है? सचमुच है और सचाई यह है कि अस्त्रों में आश्वासन नहीं है। यह मनुष्य का मोहाच्छन्न दृष्टिकोण है कि वह अनाश्वासन में आश्वासन देख रहा है और आश्वासन में आश्वासन नहीं देख रहा है।

अस्त्र का आश्वासन दूसरे शक्ततर अस्त्र से समाप्त हो जाता है। इस समाप्ति के क्षण में ही एक जीतता है और दूसरा हारता है। जय और पराजय की वेला में आश्वासन नैतिकता का ही होता है। यदि मनुष्य में नैतिकता न हो, सामाजिक सम्पर्कों में स्वस्थता न हो तो पराजित होने वाले का अस्तित्व ही नहीं रह सकता। पर वह रहता है, उसकी भित्ति है जागतिक नैतिकता।

अणुव्रत का कार्य दृष्टि के मोह या विपर्यय का प्रक्षालन करना है। इसीलिए आज वह जन-जन का आस्था-केन्द्र बनता जा रहा है। इस सारे सन्दर्भ को ध्यान में रखकर अणुव्रत अनुशास्ता आचार्यश्री तुलसी के सम्मुख अणु-ज्योति के प्रतिष्ठापन की चर्चा चली। इस चर्चा के प्रस्तोता हैं श्री जैनेन्द्रकुमार।

चर्चा का हार्द यह है—आचार्यश्री पाद-विहार करते हैं। हिन्दुस्तान के एक छोर से दूसरे छोर तक हजारों-हजारों गांवों में परिव्रजन करते हैं। लाखों-लाखों व्यक्ति सम्पर्क में आते हैं। नैतिकता का स्वर सुनते हैं। आस्था जागती है। आचार्यश्री एक गांव से दूसरे गांव में चले जाते हैं। सम्पर्क-सूत्र कुछ ढीला पड़ जाता है। आस्था का अंकुर फूटता है, वह अनभिषिक्त रह मुरझा जाता है। इस क्रम में नैतिकता को शृंखला-सूत्र नहीं मिल रहा है। इसलिए आचार्यश्री की पद-यात्रा के साथ-साथ अणु-ज्योति भी संचरित होनी चाहिए।

वह अणु-ज्योति क्या होगी ? यह जिज्ञासा स्वाभाविक है। इसके उत्तर में मैं उसका स्वरूप प्रस्तुत करना आवश्यक समझता हूं।

अणुव्रत-अनुशासन की अमूर्त भावनाओं की जो प्रतीक होगी, वह अणु-ज्योति कहलाएगी। सगुण भाषा में बताऊं—आपके सामने एक फलक है। उसमें एक रेखा-कृति है। आप देख रहे हैं, एक ज्योति-पुंज। 'संयमः खलु जीवनम्' के सहारे ज्योति-रश्मियां आगे प्रसार पा रही हैं। तम विलीन हो रहा है। मनुष्य की दर्शन-शक्ति स्फूर्त हो रही है।

इस अणु-ज्योति का नैतिकता की प्रेरक शक्ति के रूप में विकास अपेक्षित है। इसके माध्यम से मनुष्य अपनी संकल्प-शक्ति का विकास कर सकता है और ज्योति-रश्मियों के पीछे-पीछे अपने चरण आगे बढ़ा सकता है।

अणुव्रत और साम्यवाद

साम्यवाद एक आर्थिक विचारधारा है और अणुव्रत जीवन का दर्शन। साम्यवाद एक साधन है, अणुव्रत एक सिद्धान्त। साम्यवाद अणुव्रत मर्यादाओं का सामाजिक संस्करण है और अणुव्रत उसकी पूर्णता का एक अनुष्ठान। जीवन के नियम सब-के-सब शरीर के नियम नहीं हैं। शरीर की अपेक्षा के लिए उनकी अवहेलना जो की जाती है, यह भौतिक अतृप्ति का दुष्परिणाम है। आर्थिक व्यवस्था सुधरे बिना जीवन की समस्याएँ सरल नहीं होतीं, यह एक पक्ष है; और अर्थ-व्यवस्था का सुधार मात्र उनका सही समाधान नहीं है, यह दूसरा। साम्यवाद का साध्य समाज की व्यवस्था का परिवर्तन और अणुव्रत की भूमिका उसकी आन्तरिक-प्रवृत्तियों का परिवर्तन का कार्य लिए हुए है। इस प्रकार ये दोनों अभेद-भेद रेखाओं के बीच चलने वाले हैं।

समाज की दृष्टि से साम्यवाद अणुव्रत-विधि का पूरक है तो आध्यात्मिक-दृष्टि से अणुव्रत साम्यवाद का पूरक। किन्तु गहराई में जाएँ तो इसमें कुछ अन्तर आता है। जहाँ केवल शरीर का ही प्रश्न होता है, वहाँ अणुव्रत-विधि को उसका पूरक मानने की बात नहीं आती, किन्तु जहाँ आत्मा की सत्ता और होती है, वहाँ सम्बन्ध द्विष्ट हो जाता है। उसमें शरीर और आत्मा दोनों की व्यवस्था की दृष्टि रहती है।

यह मानी हुई बात है कि अर्थ-समस्या के भाव में गृहस्थ अन्य विकास-रेखाओं की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दे सकता। अर्थ-समस्या के दो पहलू हैं:

१ जीवन की आवश्यकता।

२. विलासिता।

विलासिता की दृष्टि से आज तक भी कोई व्यक्ति अपने को शोषण, उत्पीड़न और क्रूरता से नहीं बचा सका और न अर्थ-तृप्ति का ही अनुभव

कर सका।

आवश्यकता की पूर्ति को सामने रखकर चलने वालों की समस्या न सुलझे, यह अपवाद के बिना प्रायः नहीं होता। आवश्यकता की सीमा क्या हो ? विलासिता और आवश्यकता में क्या भेद-रेखा होनी चाहिए ? यह प्रश्न स्वाभाविक है किन्तु इसका उत्तर अधिक टेढ़ा नहीं है। जीवन की अनिवार्यता और माँग की लालसा में कितना अन्तर है, इसे सब नहीं तो बहुमत भली-भाँति जानता है।

साम्यवाद और अणुव्रती की विचारधारा में यहाँ एक मौलिक अन्तर आता है। साम्यवाद को जीवन की आवश्यकता की परिभाषा—वह (आवश्यकता) समाज द्वारा अनुमोदित होनी चाहिए—स्वीकार्य है। समाज को समानता के स्तर पर विलासी बनने का मौक़ा मिले तो वह उसे ठुकराने का पक्षपाती नहीं है। भोग-विलास की दृष्टि में साम्यवादी-दृष्टिकोण किसी भी पूँजीवादी-दृष्टिकोण से पीछे नहीं है। हो भी कैसे ? जागतिक स्पर्धा के लिये चलने वाले पीछे रहना पसन्द कर भी नहीं सकते।

अणुव्रत-आन्दोलन द्वारा अनुमोदित जीवन की परिभाषा अनासक्त व्यक्ति के आत्म-जागरण से उठने वाली परिभाषा है। समाज की समस्थिति में भी अणुव्रती के लिए भोग की असीमा उपादेय नहीं हो सकती। कारण कि आवश्यकताओं के आगे एक रेखा खींचे बिना उनकी परिसमाप्ति नहीं होती। और उसके बिना आगे चलते-चलते एक दिन ऐसा आता है कि शोषण से भागने वाला आदमी स्वयं शोषक बन जाता है।

मद्यपान समाज द्वारा अनुमोदित माना जाता हो, फिर भी अणुव्रती वह नहीं कर सकता, क्योंकि वह जीवन की अनिवार्यता नहीं है। न्याय और औचित्य की भावना में साम्यवाद और अणुव्रत की कक्षा एक है, फिर भी इस दृष्टि में अद्वैत नहीं होता।

साम्यवाद के न्याय और औचित्य की परिसमाप्ति अर्थ-विकास में होती है और अणुव्रती के न्याय और औचित्य की परिसमाप्ति का केन्द्र है, संयम-विकास।

इस पर से यह निकलता है कि अर्थ और संयम में जितना भेद है, उतना ही भेद साम्यवाद और अणुव्रत-आन्दोलन में है।

दूसरी दृष्टि से शरीर और आत्मा में जितना भेद है, उतना ही इन दोनों में भेद है।

साम्यवाद तब तक अधूरा है जब तक उसमें आत्मा और संयम की वास्तविक प्रतिष्ठा नहीं होती और अणुव्रत-विचारधारा तब तक पूर्णता के साथ नहीं पनप सकती जब तक कि सामाजिक जीवन का आधार अन्याय और शोषण रहता है। साम्यवाद के साथ आत्म-संयम (धर्म) चल नहीं सकता और अणुव्रती (त्यागी) समाज-व्यवस्था को ठीक चला नहीं सकता, यह उतना ही असत्य है जितना कि गधे का सींग।

साम्यवादी का दृष्टिकोण अर्थ-पूरक इतिहास से बनता है। इसलिए वह अर्थ-व्यवस्था की विघटक स्थिति को कभी पसन्द नहीं करता। आत्म-धर्म जो कि अणुव्रती की दृष्टि का केन्द्र-बिन्दु है, अर्थ की व्यवस्था से उदासीन है—न बनाने वाला है और न बिगाड़ने वाला है। मार्क्स के आर्थिक विकास-क्रम में आर्थिक-सत्ता मानी गई है। आत्म-धर्म की ओट में बुराई पल सकती है, इसलिए धर्म की सत्ता स्वीकार न की जाए तो फिर अर्थ के क्षेत्र में पलने वाली बुराइयों को क्यों उखाड़ा जाता है? प्रत्येक पदार्थ, नियम और व्यवस्था में बुराई घुस सकती है, घुसती भी है, पर उसकी सम्भावना से पदार्थ, नियम और व्यवस्था की अवहेलना नहीं की जा सकती।

पूँजीवादी भी अवांछनीय माना जाता है। अर्थ से जन्मा साम्यवाद भी उसके घेरे से बाहर नहीं है। तात्पर्य कि समाज के लिए अर्थ बुरा नहीं माना गया। किन्तु उसकी प्रयोगात्मक व्यवस्था में हित और अहित की सूझ बनी।

अर्थ-व्यवस्था में बुराई आयी इसलिए यदि उसको तोड़कर ही चलना एक सिद्धान्त होता तो साम्यवाद नाम की कोई वस्तु नहीं बनती। भलाई से बुराई का अंश अलग रखते हुए चलना एक सिद्धान्त है तो धर्म के साथ चलने वाली कमजोरियों को टालते हुए धर्म का अस्तित्व बनाये रखना ही पूर्णता है।

दूसरी बात, अणुव्रती समाज को छोड़कर नहीं जीता। वह समाज का एक उपयोगी अंग बनकर जीता है। इसलिए समाज की व्यवस्था से जी

चुराने का प्रश्न नहीं उठता। हां, यह जरूर है कि वह साम्राज्यवादी मनोवृत्ति को पोषण देने वाली कोई व्यवस्था नहीं कर सकता। तथ्य तक पहुंचें तो अणुव्रत-आन्दोलन के सामने सत्ता और शक्ति का कोई लक्ष्य नहीं है, उसका जीवन-मूल अहिंसाश्रयी है। व्यक्ति-व्यक्ति की अन्तरात्मा से पैदा होने वाली समानता—सुख-दुःख की सम-अनुभूति की शृंखला ही इसका संगठन किए हुए है। इसमें बुद्धिवाद की अपेक्षा आत्मवाद की अधिक प्रामाणिकता है।

मानवता की व्यवस्था के लिए बुद्धिवाद का स्थान है। वह भी पूरा सोलह आना नहीं। मानवता की विकास की भूमिका पर आत्मवाद का एकाधिकार है। इसलिए कहना चाहिए कि यह आन्दोलन मानवता के विकास की उर्वरा है, जिसकी अपेक्षा सबको है चाहे वह किसी क्षेत्र में कार्य करे। दूसरे शब्दों में इसका सीधा सम्बन्ध उच्च वर्ग, सत्तारूढ़ या सत्ताहीन किसी भी वर्ग से नहीं है। फिर भी अन्तर की समता का उद्बोधक होने के कारण इसका अंकुश सबके लिए है।

अणुव्रती राज्य का सूत्रधार या अंग हो सकता है, किन्तु अणुव्रती-राज्य नहीं हो सकता। कारण कि राज्य के लिए बल-संग्राहक संगठन और क्रूर-नियन्त्रण के बिना उसका कोई अस्तित्व ही नहीं रहता।

साम्यवादी दर्शन में मानवता की आदि-रेखा समष्टि का आर्थिक नियन्त्रण है। इसकी अपेक्षा निम्न-वर्ग को है। कहना चाहिए कि यह श्रम पर आधारित भौतिक परितृप्ति के संकलन की व्यवस्था है। शारीरिक या शरीर के सुख-सुविधा-सम्बन्ध विकास की जन्मभूमि भी इसे कहा जा सकता है। इसमें राज्य-सत्तावाद का वह बीज विद्यमान है, जो असमानता की ओर हड़पने की भावना का अन्त नहीं होने देता। संख्यानुपातत: युद्ध और संघर्षों के इतिहास का निर्माण राज्य-सत्ता से ही हुआ है। फासिस्टवाद के जन्म का कारण भी यही है। अर्थ की दुर्व्यवस्था का परिवर्तन मूल रोग का इलाज नहीं है। वह सिर्फ़ उसकी ऊपरी सफ़ाई है जो थोड़े दिन स्वयं रोगी को भी भ्रम में डाल सकती है।

अणुव्रत-आन्दोलन के सामने राज्य की कोई कल्पना नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति पूर्ण राज्य है। उसका संचालन 'आत्मानुशासन' से होता है। उसके

पांच सूत्र हैं :

१. अहिंसा : समता की अनुभूति।

२. सत्य : समता का व्यवहार।

३. अचौर्य : समता की वेदना।

४. काम-सन्तोष : समता का विकास।

५. अपरिग्रह : समता का संघटक-संस्थान।

साम्यवाद की समष्टि के अधिकार पर आश्रित राज्य की कल्पना का चरम-लक्ष्य भौतिक विकास और प्रकृति-विजय है।

अणुव्रतों का सम्बन्ध आत्म-विजय से है। दूसरों की विजय का परिणाम निकलता है अपनी हार और अपनी विजय का अन्तिम परिणाम होता है दूसरों पर विजय। पहला विलासी बनने का रास्ता है, दूसरा त्यागी बनने का।

प्रकृति को पग की रज बनाने वाला भी क्रोधी है, असहिष्णु है, लालची है तो उसे सुख की सांस नहीं आती और इन आत्मीय बुरी आदतों को जीतने वाला प्रकृति के किसी भी आतंक से दुःखी नहीं बनता।

मनुष्य बाहरी प्रेरणा और वातावरण के कारण बाहरी परिस्थितियों को ही सब कुछ मान बैठा है। उसे अपनी छिपी हुई शक्ति और सोये हुए सुख का भान नहीं हो रहा है। वह प्रकृति के कण-कण को टटोलकर थक गया है, फिर भी उसे शान्ति नहीं मिली है, वह अभय नहीं बना है।

अणुव्रत-आन्दोलन आन्तरिक उद्बोधन है और इसलिए 'अकुतोभय' है। कठिनाई एक ही है—इसमें आकर्षण नहीं है। भौतिक सुख-सुविधाओं के लिए अनेक कष्ट सहकर भी मनुष्य मारा-मारा फिर रहा है। उनका आकर्षण उसे बुरी तरह बेभान किये हुए है। अध्यात्म का परिणाम सुन्दर किन्तु गूढ़ है इसलिए दुनिया इसके लिए कठिनाई भी झेलने को तैयार नहीं होती।

दूसरी बात दृष्टिकोण की है। आज की शिक्षा-दीक्षा में मनुष्य पर इतना अधिक घेरा डाला जाता है कि वह दूसरी बात सोच नहीं सकता।

अणुव्रत एक दूसरी दिशा है, जो मानवीय जीवन की पूर्णता की ओर

संकेत करता है। इसका जीवन-निर्वाह-क्रम किसी भी अर्थ-व्यवस्था के प्रति विरोध या समर्थन नहीं है। विरोध है—हिंसा और शोषण के साथ। समर्थन है—आत्म-नियन्त्रण और आत्म-समता के प्रति।

वह दिन मानवता के इतिहास में एक पुण्य दिन होगा, जब मानव की जागृत चेतना इसे अपने जीवन की अनिवार्यतम आवश्यकता समझेगी।

●

सत्य का अणुव्रत

अहिंसा और अपरिग्रह के सामने जीवन की आवश्यकता और ब्रह्मचर्य के सामने दैहिक अपेक्षा की समस्या है। वैसे सत्य और अचौर्य के सामने अशक्यता और दैहिक अपेक्षा की समस्या नहीं है, यह एक तथ्य है जो वर्षों से चिन्तन की सामग्री बना हुआ है।

आचार्य विनोबा भावे का चिन्तन हमारे सामने आया तब इस पर और अधिक मनन करने का अवसर मिला। उनके चिन्तन का आशय यह है—मेरा ऐसा मानना है कि सत्य में अणुव्रत नहीं बनता। हम आज जितना सत्य जानते हैं, उसके पालन में मर्यादा नहीं बनती, उसमें विकल्प नहीं होता। वह समग्र रूप में पालन करने योग्य है और वैसा किया जा सकता है। हाँ, कल उसे और अधिक वे व्यापक रूप में जानेंगे, तो उसकी साधना और पालन भी व्यापक बन सकेगा। यह व्यापकता बढ़ती रह सकती है, पर जब जितना सत्य जानते हैं, तब उसमें सीमा बन्ध नहीं होता। इसलिए वह अणुव्रत नहीं बनता, व्रत रहता है। अहिंसा आदि और सबमें अणुव्रत बनता है। जैसे मैं श्वासोच्छ्वास लेता हूं, उसमें असंख्य जीव मरते हैं, यह हिंसा है। मैं दूध पीता हूं, यह भी हिंसा है, पर ऐसा किए बिना मैं रह नहीं सकता, क्योंकि मुझे जीवित रहना है, कार्य के लिए शरीर रहना है, इस-लिए इसे टाल नहीं सकता। अतः अहिंसा की एक मर्यादा बनती है। इसी तरह अन्य व्रतों की भी। पर सत्य में ऐसा नहीं होता—विनोबाजी के विचार में जो है, वह अस्वाभाविक नहीं है, किन्तु अणुव्रत-व्यवस्था के पीछे जो दृष्टि है, वह भी अतात्त्विक नहीं है।

हिंसा, परिग्रह और ब्रह्मचर्य में जो दोष है, वह शक्यता और अशक्यता से उत्पन्न या नष्ट नहीं, किन्तु हिंसा इसलिए सदोष है, कि वह राग, द्वेष या मोह से अभिन्न प्रवृत्ति होती है और अहिंसा इसलिए निर्दोष है कि वह रागादि से भिन्न प्रवृत्ति होती है। मूलतः निर्दोषता और सदोषता राग, द्वेष

के अभाव और भाव में है। अशक्यता जैसे बाह्य परिस्थिति-जनित होती है, वैसे राग-द्वेष-जनित भी होती है। अशक्यता को सहसा शक्यता में बदल देना हरेक व्यक्ति के लिए सरल नहीं होता, यह आन्तरिक वृत्ति की दुर्बलता ही अणुव्रत-आन्दोलन की आधार-भूमि है।

साधारणतया सत्य का अर्थ—सत् यथार्थ या परमार्थ है। जो है वह सत्य है। यह सत्य की स्वभावगत व्याख्या है। जो यथार्थ है, वह सत्य है—यह सत्य की आचारात्मक व्याख्या है।

सत् और यथार्थ दर्शन के विषय हैं। स्वभावगत सत्य सदा सत्य रहता है। वह कभी असत्य नहीं होता। वस्तु-स्वभाव को पकड़ने में हमारी दृष्टि की जो विशुद्धता और अनाग्रहशीलता है, वह दृष्टि-सत्य है।

परम अर्थ की प्राप्ति के लिए हम ऋजु भाव की आराधना करते हैं, यह आचार सत्य है। दृष्टि सत्य सम्यग्-दर्शन है, वह व्रत की पृष्ठभूमि है। व्रत का सम्बन्ध आचार-सत्य से है और उसका सम्बन्ध शरीर, वाणी, मन और अविसंवादन योग से है। साधारणतया सत्य को मृषावाद का प्रतिपक्ष समझा जाता है, किन्तु व्यापक अर्थ में वक्रता मात्र मिथ्या है और जो ऋजुता है, यथार्थ का गोपन नहीं है, वह सत्य है। सूक्ष्म कोटि में विचार और कार्य का विसंवाद है, उनमें द्वैध है—वह असत्य है। शरीर का एक इंगित मात्र जो मन के भावों का गोपन करे, वह असत्य है। इस कोटि के असत्य के वर्जन की जागरूकता प्रमादपूर्ण जीवन में बहुत बार नहीं होती। सत्य के व्रती को जागरूक भाव के बिना सत्य की आराधना नहीं होती। यह पावारिक सूक्ष्मता का जीवन की जटिलता और सामाजिक विधि-विधानों की मर्यादा में रहने वाले सत्य कीपालन करने की सतत जागरूकता कम रख पाता।

कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं, जो सत्य को जानते ही नहीं।

कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो सत्य को जानते हैं पर उसमें उनकी श्रद्धा नहीं होती।

कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो सत्य को जानते भी हैं, उसमें उनकी श्रद्धा भी होती है किन्तु उसका आचरण नहीं कर पाते।

कुछेक में आचरण की शक्ति का थोड़ा विकास होता है, वे मिथ्या

वचन या असत्य को श्रेष्ठ नहीं मानते; किन्तु मानसिक दुर्बलतावश उसे छोड़ने में अपने को असमर्थ पाते हैं। ज्ञान और श्रद्धा की समर्थता में भी आचरण की असमर्थता होती है इसलिए ज्ञान, श्रद्धा और आचार में पौर्वा-पर्य माना जाता है। ज्ञान की परिणति श्रद्धा में और श्रद्धा की परिणति आचार में होती है। जानने के पश्चात् उसमें श्रद्धा हो, यह जरूरी नहीं है। जिसमें श्रद्धा है, उसका आचरण हो, यह भी जरूरी नहीं है किन्तु जिसका आचरण होता है, उसमें श्रद्धा भी होती है और उसका ज्ञान भी होता है। हमारी ज्ञान-शक्ति का विकास होता है, हम जानते हैं। हमारी दृष्टि-शक्ति का विकास होता है, हम श्रद्धालु बनते हैं। हमारी चरित्र-शक्ति या निर्मोह भावना का विकास होता है, हम आचारवान् बनते हैं। आचार की तीन प्रधान भूमिकाएं हैं :

१. अणुव्रत, २. महाव्रत, ३. यथाख्यात।

गृहवासी व्यक्ति का आचार अणुव्रत कहलाता है। सरागमुनि का आचार महाव्रत और वीतराग मुनि का आचार यथाख्यात कहलाता है। कथनी और करनी में जो भेद है, उसका पूर्ण अन्त वीतराग दशा में होता है।

सत्य और अहिंसा दोनों धर्म हैं। इनमें बड़े-छोटे का प्रश्न नहीं होता। दोनों सापेक्ष हैं। अहिंसा के बिना सत्य नहीं होता और सत्य के बिना अहिंसा नहीं होती। निश्चय नय में ये दो हैं ही नहीं। सत्य अहिंसा का ही एक पहलू है। साधना की दृष्टि से हमने इन्हें विभक्त किया है। जीव-वध के संवरण को प्राणातिपात विरति कहते हैं, तब वाणी के संवरण को मृषावाद विरति या सत्य। अहिंसा का स्वरूप व्यापक है। असत् का संवरण और सत् प्रवर्तन अहिंसा है। इस रूप में सत्य अहिंसा से भिन्न नहीं है। शरीर, वाणी और मन की वक्रता असत्य है, विसंवाद असत्य है। काया, वाणी और मन की ऋजुता सत्य है, अविसंवाद सत्य है। वक्रता हिंसा और ऋजुता अहिंसा।

अहिंसा और सत्य दोनों साधन हैं। इनका साध्य है आत्मा का सहज भाव। वह सत्य भी नहीं है, अहिंसा भी नहीं है। वह असत्य भी नहीं है, हिंसा भी नहीं है। सत्य और अहिंसा साधनकालीन तत्त्व हैं। जीवन में

हिंसा और असत्य आ जाते हैं, तब स्वभाव विभाव बन जाता है, प्रकृत विकृत बन जाता है। स्वभाव की उपलब्धि के लिए मनुष्य यत्न करता है, साधन करता है। अहिंसा सत्य का आलम्बन ले विकृति से प्रकृति में आ जाता है।

प्राणातिपात जीवन की अशक्यता भी है, किन्तु हिंसा और असत्य जीवन की अशक्यता या अनिवार्यता नहीं, किन्तु उसकी विकृति है। प्राणातिपात का मूल जीवन की प्रवृत्तियों में भी है, किन्तु हिंसा और असत्य का मूल मोह है। मोह एक आत्मिक संस्कार और कर्म है, जो राग-द्वेष की भावनाओं से पुष्ट होता रहता है। मोह आत्मा को विकृत बनाता है। विकृत आत्मा की प्रवृत्तियों को हम अनेक नाम दे देते हैं, किन्तु वास्तव में उन सबका नाम है हिंसा।

यह विश्व जीवों से संकुल है। चलते-फिरते कहीं न कहीं जीव-वध हो ही जाता है। दैहिक दशा में निर्मोह भाव प्राप्त हो सकता है, किन्तु प्राण-वध हो ऐसी स्थिति सर्वभावेन: प्राप्त नहीं होती।

मुमुक्षु का प्रयत्न प्राण-वध से निवृत होने के लिए नहीं होता, किन्तु निर्मोह बनने के लिए होता है। निर्मोह बनने के लिए प्राण-वध से निवृत होना आवश्यक है। इसलिए वह प्राण-वध न करने के लिए सतत जागरूक रहता है, किन्तु मुमुक्षु भाव सब में समान नहीं होता। एक व्यक्ति अनेक कष्टों को झेलकर भी प्राण-वध से विकृत रहने का यत्न कर सकता है, किन्तु दूसरा प्राण-वध से निवृत रहने के लिए कष्टों को झेलना नहीं चाहता।

एक व्यक्ति अपराध करने वाले के प्रति भी मित्र-भाव रख सकता है, किन्तु दूसरा वैसा नहीं कर सकता। इस प्रकार मुमुक्षु भाव की अनेक कोटियां हैं जो मोह की तरतमता के अनुसार निर्मित होती हैं और हिंसा व अहिंसा की अनेक रेखाएं खींचती हैं। स्वरूप की दृष्टि से हिंसा भी एक है और अहिंसा भी एक है। मात्रा की दृष्टि से हिंसा और अहिंसा दोनों के अनेक विकल्प बनते हैं। उनमें से अहिंसा की एक कोटि का नाम अणुव्रत है और एक कोटि का नाम महाव्रत। अणुव्रत अहिंसा की एक कोटि है, किन्तु अणुव्रतियों में अहिंसक वृत्ति का अपार तारतम्य हो सकता है। यही बात महाव्रतियों के लिए है। भगवान् महावीर ने महाव्रतियों की अहिंसा

भावना में द्वितीया और पूर्णिमा के चाँद-सा तारतम्य बतलाया है। सूक्ष्म दृष्टि से ये जितने तरतम भाव हैं, उतने ही विभाग हैं। स्थूल दृष्टि से साधना की सुलभता के लिए दो मोटे विभाग किए हैं, जिनका तात्पर्य है कि मुमुक्षु भाव मन्द हो, तो वह घर और परिवार के साथ रहकर भी अहिंसा के लिए सत्प्रयत्नशील रहे और यदि मुमुक्षु भाव तीव्र हो तो वह घर और परिवार से पृथक् रहकर ही अहिंसा की साधना करे। ये भाव आन्तरिक शुद्धि को बांधनेवाले नहीं, किन्तु आन्तरिक शुद्धि के लिए बाहरी भूमिका का उपयुक्त चुनाव करने के लिए हैं। यह सही है कि प्राण-वध और परिग्रह की जीवन में जो अनिवार्यता है, मृषावाद, चोरी और अब्रह्मचर्य की नहीं है। फिर भी अहिंसा और अपरिग्रह की भाँति सत्य को महाव्रत और अणुव्रत के रूप में विभक्त किया जाता है वह निर्हेतुक नहीं है।

असत्य का हेतु जीवन की अनिवार्यता नहीं, किन्तु मोहजनित विकृतिपूर्ण मनोभाव है। असत्य बोलने का प्रसंग जीवन में कभी आता है, बाह्य निमित्त मिलते हैं, तब सामयिक प्राणी असत्य बोलते हैं। अकेला व्यक्ति असत्य नहीं बोलता। असत्य बोलना विकृति की अभिव्यक्ति मात्र है। मूल दोष है, विकृति। उसका परिशोधन एक ही साथ नहीं हो जाता। सत्य की एक रेखा खींची जाती है। वह सध जाती है। फिर दूसरी खींची जाती है। इस प्रकार साधते-साधते उसकी समग्रता सध जाती है। यह क्रमिक अभ्यास है। इसमें दूसरों को धोखा देने का प्रयत्न नहीं। अमुक कोटि का असत्य बोलूंगा—इस भावना की भी प्रधानता नहीं है। इसमें प्रधानता विविध रेखाओं को पार करते हुए सत्य तक पहुंच जाने की है। अणुव्रत असत्य को मान्यता नहीं देता, किन्तु उसमें वास्तविकता का स्वीकार है। वह व्यक्ति की दुर्बलता को प्रश्रय देने के लिए नहीं, किन्तु उसका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने के लिए है। अहिंसा के अणुव्रत और महाव्रत के विभाग का नैश्चयिक हेतु जीवन की अनिवार्यता नहीं, किन्तु निर्मोह भाव का तारतम्य है। वैसे ही इन दो भागों में बांटने का हेतु निर्मोह भाव की तरतमता है। वह कृत्रिम रेखा नहीं है। इसलिए अणुव्रत और महाव्रत का विभाग भी स्वाभाविक है।

संघटन या विघटन

एक व्यक्ति समूह में रहकर भी अकेला रहता है और एक व्यक्ति अकेला रहकर भी समूह में रहता है। आत्मा वास्तव में अकेली ही है। उसके साथ एक समुदाय अपनी वृत्तियों का होता है और दूसरा व्यक्तियों का। जिसकी वृत्तियाँ निर्मोह होती हैं, वह व्यक्तियों के बीच रहकर भी अकेला रहता है और जिसकी वृत्तियाँ मोहप्रधान होती हैं, वह अकेला रह-कर भी समुदाय में रहता है।

आत्मा की प्रकृति विघटनात्मक है, वह अकेले में रहती है। संघटन व्यवहार की वस्तु है। जहाँ देह है वहाँ कुछ न कुछ व्यवहार होता ही है। जहाँ व्यवहार होता है, वहाँ कुछ न कुछ सीमाएँ भी होती हैं। मुमुक्षु व्यक्ति जैसे-जैसे परमार्थ की ओर बढ़ता है, वैसे-वैसे व्यवहार की सीमाएँ टूटती जाती हैं। आगम-पुरुष के लिए कोई शास्त्र नहीं होता। वह स्वयं शास्त्र होता है। शास्त्र उसी के लिए है, जो आगम नहीं होता—विशिष्ट ज्ञानी नहीं होता।

भगवान् महावीर ने साधना की दोनों श्रेणियों को मान्यता दी। एक मुनि संघ में रहकर चरित्र की आराधना करता है तो दूसरा संघ से अलग रहकर उसकी आराधना करता है। आराधना दोनों स्थितियों में की जा सकती है। स्थिति का चुनाव आराधक की योग्यता पर निर्भर है। अकेले रहकर साधना करने को भगवान् ने विशेष महत्त्व दिया है। पर इससे भी अधिक महत्त्व उन्होंने इस प्रश्न को दिया है कि अकेला कौन रहे ?

शिष्य ने पूछा—भगवन् ! अकेला कौन रह सकता है ?

भगवान् ने उत्तर दिया—जिसका शरीर-बल, धृति-बल, श्रद्धा-बल, ज्ञान-बल, तपोबल विशिष्ट हो और जो साधना के लक्ष्य पर अडिग हो, वही मुनि अकेला रहने का अधिकारी है। जिसकी धृति व श्रद्धा दुर्बल होती है वह अकेला रहकर उतना भी नहीं पा सकता, जितना संघ में रह-

कर पा सकता है।

संघ में रहने का प्रयोजन यही है कि कोई साधक धर्म से डिगता हो, उसे दूसरा साधक पुनः धर्म में स्थापित करे। एक दूसरे को साधना में सहयोग करे। संघ-बद्धता का प्रयोजन नियंत्रण नहीं है।

साधना के व्रत, संघ में रहे उसके लिए भी होते हैं और अकेला रहे, उसके लिए भी। संघीय व्यवस्थाएँ संघ में रहे, उसी के लिए होती हैं, संघ-मुक्ति के लिए नहीं। कुछ बातें ऐसी होती हैं कि जिनका अस्तित्व दो में होता है, अकेले में नहीं। इसलिए एक के लिए जो अनावश्यक होता है, वह अनेक की सहस्थिति में आवश्यक होता है।

कोई भी साधक चलते ही सिद्ध नहीं बनता। वह साध्य की सिद्धि का दृढ़ संकल्प लेकर चलता है। फिर भी उसमें राग-द्वेष का अस्तित्व रहता है, संस्कार पूर्वाग्रह और मानसिक झुकाव भी कोई निर्मूल नहीं हो जाते। वह कभी रागी बन जाता है और कभी द्वेषी। समुदाय में कभी-कभी उत्तेजनापूर्ण परिस्थितियाँ भी बन सकती हैं। इसीलिए संघ-व्यवस्था में इनके निराकरण का प्रयत्न और विधान होता है। अकेले में ऐसी वृत्तियों से सहज मुक्ति मिल जाती है।

शिष्य ने पूछा— भन्ते! सहाय प्रत्याख्यान—दूसरों का सहयोग न लेने वाला व्यक्ति क्या प्राप्त करता है?

भगवान् ने कहा—सहाय-प्रत्याख्यान से वह अकेलेपन को प्राप्त होता है। अकेलेपन को प्राप्त हुआ जीव एकत्व के आलम्बन का अभ्यास करता है। वह कोलाहल-शब्दों से मुक्त, वाचिक कलह से मुक्त, झगड़े से मुक्त, कषाय से मुक्त, तू-तू-मैं-मैं से मुक्त, प्रचुर संयम वाला और समाधिस्थ हो जाता है। संघ में रहने वाला कभी-कभी कलह आदि के जाल में फँस भी जाता है, उसके लिए व्यवस्थाएं व मर्यादाएं भी होती हैं पर इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि धर्म की आराधना कर ही नहीं सकता। यह सही है कि विघटन साधना की उत्कर्षपूर्ण स्थिति है। यदि सारे साधक या धार्मिक विघटन के अयोग्य हो जाएं तो उसे धर्म के इतिहास में अभूतपूर्व घटना कहा जाएगा।

तर्क की भाषा में इसका समाधान अप्राप्त नहीं है कि एक साधक

साधना की उच्च स्थिति को पा सकता है, विघटन की योग्यता का अर्जन कर सकता है तो दूसरा साधक क्यों नहीं कर सकता ? वह भी तो मनुष्य है। मनुष्य होने के कारण जो एक के लिए सम्भव है वह दूसरे के लिए भी सम्भव हो सकता है, किन्तु साधना मनुष्य का अनिवार्य गुण नहीं है, वह योग्यता-सापेक्ष है। सब मनुष्यों में आन्तरिक योग्यता समान नहीं होती; क्रोध, मान आदि दोषों का उपशम समान नहीं होता। जिस व्यक्ति के दोष अधिक उपशान्त होते हैं, वह साधना में सफल होता है। जो अकेला रहता है उसे अधिक उपशान्त होना ही चाहिए। दूसरे शब्दों में जो दोषों से अधिक मुक्त हो, वही अकेला रहने का अधिकारी है। संघ में दोनों प्रकार के मनुष्य होते हैं—अधिक उपशम वाले और कम उपशम वाले। प्रथम प्रकार के व्यक्तियों के लिए विशेष व्यवस्थाएँ आवश्यक नहीं होतीं क्योंकि उनका आत्मानुशासन अधिक बलवान होता है। दूसरी श्रेणी वाले व्यक्तियों के लिए वे आवश्यक होती हैं। साधना की विशेष योग्यता वाले व्यक्ति ही यदि संघ में हों तो संघटित या विघटित साधना-प्रणाली में विशेष अन्तर नहीं आता। किन्तु जहां संघ है, साधना को हरेक के लिए सुलभ करने का प्रयत्न है, वहां कम योग्यता वालों को रोका भी कैसे जा सकता है ? जिसमें साधना का भाव न हो वह व्यक्ति भी कभी-कभी किसी प्रलोभनवश धर्मसंघ में आ जाता है। जिसमें साधना का भाव होता है, किन्तु उसकी योग्यता कम होती है, वह भी धर्म-संघ में प्रविष्ट हो जाता है और जहां संघ होता है, वहां उसको सर्वोत्कृष्ट बनाने का यत्न भी होता है। ये संघटन की विशेष परिस्थितियां हैं। संघटन में स्पर्धा, यश, पद-प्रतिष्ठा की महत्त्वाकांक्षा के बीज निहित होते हैं। यदि साधना का भाव प्रबल होता है तो उन बीजों को पनपने का अवसर नहीं मिलता और यदि साधना की वृत्ति क्षीण हो तो वे बीज विकास पा जाते हैं। संगठन के साथ साधना का तेज प्रखर हो तो वह जन-साधारण के लिए विघटित-प्रणाली की अपेक्षा अधिक लाभदायक हो सकता है। अतः अनेकान्त-दृष्टिकोण से देखा जाए तो साधना की विघटित प्रणाली व्यक्तिगत रूप से अधिक मूल्यवान है और संघटित प्रणाली जनता के लिए अधिक उपयोगी है।

●

प्रगति या प्रतिगति

यह संसार एक चक्र है। इसमें कुछ नया भी है, कुछ पुराना भी है। दूसरी दृष्टि से नया भी नहीं है, पुराना भी कुछ नहीं है। जो अति प्राचीन हो चुका, विस्मृति के गर्भ में जा चुका उसका पुनरावर्तन ही नवीन है और जो अति परिचित हो चुका, स्मृति की रेखाओं में उभर चुका—वही है प्राचीन। विस्मृति की स्मृति और उसका जो उभार है वही है प्रगति। अत्यन्त परिचय जो है वही है प्रतिगति।

यदि कोई पूछे कि आज का मानव-समाज प्रगति के शिखर पर चढ़ रहा है या प्रतिगति कर रहा है ? इसका उत्तर एकान्त की भाषा में नहीं दिया जा सकता। विस्मृति के कोण से देखें तो लगेगा कि प्रगति हो रही है। और स्मृति को व्यापक बनाकर देखें तो लगेगा कि प्रतिगति हो रही है। जैन भाषा में काल के दो चक्र हैं—उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी, जो प्रगति और प्रतिगति के सूचक हैं।

१. कार्ल मार्क्स के अनुसार साम्यवाद का अन्तिम ध्येय है—राज्य-हीन समाज की स्थापना। महात्मा गांधी ने भी शासनहीन समाज की परिकल्पना की थी। हम सभ्यता के आदियुग में चले जाएं, वहां व्यक्ति मिलेंगे, समाज नहीं, समाज मिलेगा, राज्य नहीं, राज्य मिलेगा पर इतना परतन्त्र नहीं, जितना आज। हम आदि-बिन्दु से देखें तो लगेगा कि शासन-प्रणालियों का विकास हुआ है, प्रगति हुई है। किन्तु मार्क्स की कल्पना के मध्य-बिन्दु से देखें तो लगेगा कि राज्य की सत्ता का जो विकास हुआ है, व्यक्ति या समाज का जो कृत्रिम निग्रह है, वह प्रतिगति है, ध्येय-प्राप्ति की दूरी है।

जैन मान्यता के अनुसार आदियुग के मनुष्य उपशान्त थे। उनके क्रोध, मान, माया और लोभ पतले थे। उनमें कोई लड़ाई-झगड़ा नहीं था। वे किसी को हीन और किसी को कुलीन नहीं मानते थे। उस समय का

समाज जातिवाद के अभिशाप से मुक्त था। उनके पास कोई शासन नहीं था, न वे कूटनीति का प्रयोग करते थे। ठगी के असंख्य साधनों से वे अपरिचित थे। वे स्वभाव से सन्तुष्ट थे। अधिकार-हरण, अपहरण, चोरी, डकैती जैसे शब्द नहीं बने थे। असन्तोष के बिना प्रगति नहीं हो सकती, इस नीति-सूत्र के आलोक में वह पिछड़ा हुआ, अविकसित युग था। आज की छीना-झपटी के प्रकाश में देखा जाए तो वह प्रगतिशील था।

आधुनिक मनुष्य के क्रोध, मान, माया और लोभ तीव्र हैं। वह बात-बात में आपा खो बैठता है। वह राष्ट्र का मुखिया है तो वह युद्ध की धमकी देते हुए जरा भी नहीं झिझकता। आज का व्यक्ति क्या जातिवाद, और रंगवाद के अभिशाप से मुक्त है? अपने को अभिजात और दूसरों को नीच जाति मानने में उसे बड़ी गौरवानुभूति होती है। वह कब सोचता है कि मनुष्य मनुष्य को हीन समझता है वहाँ मनुष्यता अविभक्त कैसे होगी? कूटनीति और ठगी का जाल इतना बिछा हुआ है कि ऋजुता उसके धागे में कहीं उलझी पड़ी है। सत्ता, अधिकार और पदार्थ की छीना-झपटी में कौवे भी आज मनुष्य से आगे नहीं हैं। कहा जा सकता है—क्रोध बढ़ा है, अभिमान बढ़ा है, माया-कपट बढ़ा है। इन आवेगों की वृद्धि के साथ-साथ शत्रुवाद, जातिवाद, रंगवाद, कूटनीतिवाद और साम्राज्यवाद या अधिकारवाद की प्रगति हुई है। उनके परिवारों में और-और अनेक वादों, शोधों, आविष्कारों, प्रयोगों, उपलब्धियों व परिभोगों की प्रगति हुई है। नहीं कहा जा सकता—यह प्रगतिशील युग नहीं है, मनुष्य ने प्रगति नहीं की है।

पदार्थ की उपलब्धि से मनुष्य सन्तुष्ट नहीं है, यह नहीं कहा जा सकता। तो यह भी कैसे कहा जा सकता है कि उससे वह असन्तुष्ट नहीं है? शीतयुद्ध से भय क्यों है? शान्ति की पुकार क्यों है? विचाराभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता की माँग क्यों है? समन्वय और मैत्री की भावना क्यों फूट पड़ना चाहती है? इनके मूल में यही गूढ़ता है कि मनुष्य पदार्थ-विकास से ही सन्तुष्ट नहीं होता, उसकी सन्तुष्टि के लिए अभय, शान्ति, स्वतन्त्रता, सौहार्द और मैत्री आदि-आदि चारित्रांग अपेक्षित हैं। इसलिए कहा जा सकता है—प्रगति के उपरान्त भी मनुष्य प्रतिगति से मुक्त नहीं है। प्रगति की दूरी को उसे आज भी पार करना है।

२. सुधार या क्रान्ति प्रगति के ही अभिन्न अंग हैं। एक अन्तर्जातीय विवाह होता है, लोग उसे प्रगति मानते हैं। जो रेखा खींची हुई है, उसे पार करना ही प्रगति हो तो भले हो, इतिहास का विद्यार्थी उसे प्रगति कैसे मानेगा ? स्वयंवर में कन्या को अपनी रुचि के अनुकूल पति चुनने का अधिकार प्राप्त था। उसमें कुलीन-अकुलीन का विचार करना आवश्यक नहीं था।

> कन्या वृणीते रुचित, स्वयम्बरगता वरम्।
> कुलीन मकुलीनं वा, क्रमो नास्ति स्वयंवरे ॥

स्वयंवर की प्रणाली उस समय सर्वश्रेष्ठ मानी जाती थी।

> वरिष्ठोहि स्वयंवर : (आदिपुराण)

मनुस्मृति के अनुसार शूद्र की पत्नी शूद्रा, वैश्य की वैश्या और शूद्रा, क्षत्रिय की क्षत्रिया, वैश्या और शूद्रा, तथा ब्राह्मण की ब्राह्मणी, क्षत्रिया, वैश्या और शूद्रा हो सकती है :

> शूद्रैव भार्या शूद्रस्य, सा च स्वा च विशः स्मृते।
> ते च स्वा चैव राज्ञश्च ताश्च स्वा चाग्रजन्मनः ॥३-१३॥

इसी का समर्थन जैन पुराणों में मिलता है :

> शूद्रा श्रुद्रेण बोढव्या, नान्या स्वाताञ्च नैगमः।
> वहेत् स्वां ते च राजन्यः, स्वां द्विजन्माक्वचिच्चताः ॥
> (आदिपुराण)

मनु ने आगे चलकर व्यवस्था की गर्हा भी की है पर विवाह का इतिहास बड़ा ही विचित्र है। जैन परम्परा का यह अभिमत है कि अपने ही वर्ण में विवाह करने की प्रथा विक्रमादित्य ने प्रचलित की। अपने-आप से पूछिए, अब इतिहास के आलोक में अन्तर्जातीय विवाह क्या प्रगति है ?

यूरोपियन लोग स्त्रियों को अधिक स्वतन्त्रता देते हैं। इसलिए वे अपने को प्रगतिशील मानते हैं। किन्तु पाण्डु-कुन्ती-सम्वाद में जो स्वातन्त्र्य का चित्र है उसकी दृष्टि से यूरोप आज भी पिछड़ा हुआ है। पाण्डु ने कुन्ती से कहा—पूर्वकाल में स्त्रियां अनावृत थीं, वे भोग-विलास के लिए स्वतंत्र होकर घूमा करती थीं। वे कौमारावस्था में ही व्यभिचार किया करती थीं। यह उनके लिए अधर्म नहीं था, उस समय उनके लिए वही धर्म था :

अनावृताः किल पुरा स्त्रिय आसन् वरानने ।
कामचारविहारिण्य; स्वतन्त्राश्चारु हासिनी ।।४।।
तासां व्युच्चरमाणानां, कौमारात् सुभगे पतीन् ।
ना धर्मोऽभूद्रवरारोहे, स हि धर्मः पुराभवत् ।।५।।
(महाभारत, आदिपर्व, अध्ययन १२२)

स्त्री पुरुष की नियत-व्यवस्था की व्यवस्था श्वेतकेतु ने की। उसके सामने कोई ब्राह्मण उसकी माता का हाथ पकड़कर बलात् ले जाने लगा तब वह क्रोध से कांपने लगा। उस समय उसके पिता ने कहा, "पुत्र ! क्रोध मत कर, यह सनातन धर्म है। सब वर्णों की स्त्रियां अनावृत हैं। सभी लोग अपने-अपने वर्ण के साथ वैसा व्यवहार करते हैं, जैसे गाएं।"

ऋषिपुत्र श्वेतकेतु को यह उपदेश अच्छा नहीं लगा। यह धर्म उसे सह्य नहीं हुआ। उसने स्त्री-पुरुष के बीच मर्यादा स्थापित की।

मा तात कोपं कार्षीस्त्वमेष धर्म्मः सनातनः ।
अनावृताः हि सर्वेषु वर्णानामंगना भुवि ।।
यथागावः स्थितास्तात, स्वेस्वे वर्णे तथा प्रजाः ।।१४।।
ऋषिपुत्रस्तुतं धर्म्मं श्वेतकेतुर्नचक्षमे ।
चकार चैव मर्य्यादामिमां स्त्रीपुंसयोर्भूवि ।।१५।।
(महाभारत, आदिपर्व, अध्ययन १२२)

क्या नारी-स्वातन्त्र्य की रट लगाने वाले यूरोपियन इस स्थिति में हैं ? प्रगति का प्रश्न ही ऐसा है कि विस्मृति के लोक में उतरे बिना उसका उत्तर नहीं दिया जा सकता।

कहा जाता है आज का युग सर्व-धर्म-समभाव का युग है। सहिष्णुता बढ़ी है, मनुष्य उदार बना है, दृष्टिकोण व्यापक बना है। पर दर्शन का विद्यार्थी इसे अभूतपूर्व कैसे मानेगा ? भगवान महावीर ने "अपने-अपने अनुष्ठान के द्वारा मुक्ति होती है, अन्यथा नहीं," यह मानने वालों की आलोचना ही नहीं की किन्तु दूसरा पक्ष भी प्रस्तुत किया। भगवान् ने कहा—चरित्र की आराधना पूर्ण हो तो जैनेतर सम्प्रदाय के तपस्वी को भी उसी के वेश में मुक्ति हो सकती है।" इससे अधिक और क्या धार्मिक उदारता हो सकती है ? इससे अधिक और क्या धर्म और सम्प्रदाय का

भेद हो सकता है ? कहा जा सकता है कि प्रगति का पथ जब अवरोध पाता है तब मनुष्य प्रतिगामी होता है और प्रगति के पथ पर पुनः आवागमन शुरू होता है, मनुष्य उसे एक नया चरण समझ बैठता है।

प्रगति के ये तीन चित्र हैं। ऐसे सैकड़ों चित्र इतिहास के पृष्ठों पर अंकित हैं। कोई भी मनुष्य मिथ्या विश्वास न करे कि आज का युग ही प्रगतिशील है और कोई यह भी न माने कि जो प्रगति हो रही है वह सारा अपराध ही है। क्रोध, मान, माया और लोभ की, उनके फलस्वरूप चरित्र-हीनता की जो प्रगति हो रही है, उसके लिए हम सब कामना करें कि शान्ति, सौहार्द, मैत्री, अभय, विश्वास, अनाग्रह भाव की प्रगति हो और अणुव्रत-आन्दोलन इस भावना का प्रेरक बने।

●

व्रत और वाद

पदार्थ-जगत् में दो शब्द हैं, स्वार्थ और परार्थ। जो अपने लिए हो, वह स्वार्थ और जो दूसरों के लिए हो, वह परार्थ। आत्म-जगत् में दो शब्द हैं—स्वार्थ और परमार्थ। परार्थ शब्द वहां नहीं है। स्वार्थ और परमार्थ भी एकार्थ-वाची हैं। वस्तुतः जो स्वार्थ है, वही परमार्थ है, और जो परमार्थ है, वही स्वार्थ है।

आत्मानुशासन अपने लिए होता है इसलिए वह स्वार्थ है। जो पर की भलाई के लिए अनुशासन होता है, वह आत्मानुशासन नहीं, परानुशासन है। आत्मा परम है। उसका अनुशासन अपने लिए होता है, इसलिए वह परमार्थ है। पदार्थ-जगत् में स्वार्थ जितना निन्दनीय है, उतना ही वह आत्म-जगत् में वन्दनीय है।

मनुष्य का दृष्टिकोण ,दूसरों के लिए काम करने का अधिक हो गया है। उसमें परिवर्तन लाने की अपेक्षा है। सही अर्थ में अपने लिए काम करने वाला ही दूसरों के लिए कुछ कर सकता है। जो केवल दूसरों के लिए करता है, वह न कुछ अपने लिए कर पाता है और न दूसरों के लिए भी। यह अपेक्षित है कि मनुष्य अपने लिए काम करना सीखे।

व्रत केवल अपने लिए होते हैं। पदार्थ की कमी होने पर मैं उसका भोग कम करूं, दूसरों की भलाई के लिए उसका उतना ही भोग करूं जितना मेरे लिए प्राप्त है—यह परार्थता है, व्रत नहीं। पदार्थ की अल्पता नहीं है, सब लोगों को आवश्यकतानुसार उपलब्ध है, फिर भी अपने संयम की साधना के लिए उसका भोग कम करूं, वह व्रत है। दूसरों के लिए ऐसा करना आवश्यक नहीं है किन्तु, अपने लिए ऐसा करना आवश्यक है और वह इसलिए है कि अपने-आपको समझने या पाने के लिए पदार्थ-जगत् के सम्बन्ध को कम करते जाना आवश्यक है। यही व्रत का मूल आधार है।

मैं केवल दूसरों की भलाई के लिए कुछ करूं और जिनकी भलाई के

लिए करूं, वे ऐसा न मानें कि मैं उनकी भलाई के लिए कुछ करता हूं तो मेरा मन ग्लानि से भर जाएगा और निराशा छा जाएगी।

मैं अपनी भलाई के लिए एक अच्छा काम करूं और उससे दूसरों की भलाई भी होती है, वहां जिनकी भलाई होती है, वे ऐसा न भी मानें कि मेरे प्रयत्न से उनका कुछ भला हो रहा है, तो भी मेरे मन में न ग्लानि होगी और न निराशा। कारण स्पष्ट है। मैंने उनके लिए किया ही कब था।

व्रत के सिद्धान्त में कभी वंचना नहीं होती और इसलिए नहीं होती कि व्रत परोक्ष नहीं होता। आत्मा और कार्य का सीधा सम्पर्क रहे, तो कोई वंचना नहीं हो सकती। जो भी वंचना होती है, वह आत्मा के परोक्ष में होती है। आत्मा और कार्य के बीच में कोई तीसरी वस्तु आ जाती है, तभी होती है। व्रत आत्मा के द्वारा स्वीकृत होता है। इसलिए वह उसके प्रत्यक्ष रहता है। वह अपनी स्वतन्त्र बुद्धि और भावना से उद्भूत होता है, इसलिए उसके प्रति आस्था भी बनी रहती है। किसी समय भारतीय जनता ने व्रत को बहुत सूक्ष्मता और तीव्र श्रद्धा से पकड़ा था। उस पकड़ में आत्म-सत्ता और आत्मानुशासन के सम्मुख राज्य-सत्ता और राज्य-शासन विनत हो गए थे। यह बहुत स्पष्ट है कि सत्ता का दर्प तभी प्रबल होता है जब व्यक्ति-व्यक्ति की अस्वीकारात्मक क्षमता कम हो जाती है। राज्य का शासन तभी विस्तारशील बनता है, जब व्यक्ति-व्यक्ति का आत्मानुशासन क्षीण बन जाता है। व्रत का अर्थ ही है अस्वीकारात्मक क्षमता का विकास, आत्मानुशासन का विकास। स्वीकारात्मक भावना और बाहरी अनुशासन का विकास हो तो समझना चाहिए कि अव्रत का विकास हो रहा है।

विश्व की सारी नियामक शक्तियां भय, शस्त्र और जीवन के प्रति मूर्च्छित होकर चलती हैं, वहां व्रत की शक्ति अभय, निःशस्त्रीकरण और मृत्यु को सम्मुख रखकर चलती है। जहां बाहरी नियमन व्यक्ति में हीन भावना उत्पन्न करते हैं, वहां आन्तरिक नियमन उसे अदम्य बनाते हैं। काल के अविरल प्रवाह में ऐसे अनेक व्यक्ति हुए हैं, जिन्होंने व्रत की उपयोगिता को समझा और दूसरों को समझाया। आचार्यश्री तुलसी उन्हीं में से एक हैं। उन्होंने अणुव्रत-आन्दोलन का प्रवर्तन कर आत्मानुशासन के

विकास की दिशा में जनता को प्रेरित किया है। जनता ने अणुव्रत-आन्दोलन से प्रेरणा ली है, पर व्रतों की भावना स्थायी समाधान के रूप में गृहीत नहीं हुई है।

आज के बुद्धिवादी लोग वादों के जाल में फँसे हुए हैं, वे समाजवाद या साम्यवाद की शासन-प्रणालियों को ला सारे समाज को एकबारगी बदल देना चाहते हैं। विश्व के कई अंचलों में ऐसे प्रयोग हुए हैं। सामाजिक जीवन का क्रम बदला भी है। किन्तु उस परिवर्तन के बाद भी मूल प्रश्न ज्यों-का-त्यों है। आर्थिक और वैज्ञानिक उन्नति के बाद भी मनुष्य की उन्नति का प्रश्न वैसा-का-वैसा है। बाहरी उपकरण जितने विशाल बने हैं, उतना विशाल मनुष्य नहीं बना है। व्रत से मनुष्य विशाल बनता है। उसकी क्षुद्रता विलीन हो जाती है।

एक ओर बाहरी उपकरणों की विशालता के प्रयत्न चल रहे हैं और दूसरी ओर मनुष्य की विशालता के प्रयत्न हो रहे हैं। उपकरणों की आवश्यकता है जीवन-धारण के लिए और व्रतों की आवश्यकता है जीवन को शान्तिमय बनाए रखने के लिए। कोई भी समाज इन दोनों को वियुक्त रखकर स्थायी समाधान नहीं पा सकता।

संघर्ष, छीना-झपटी के प्रयत्न, आक्रमण, युद्ध, भ्रष्टाचार, हत्याएं और मार-काट उस समाज में कम नहीं हैं जो अर्थ से समृद्ध हैं। अर्थ जीवन-निर्वाह के लिए है, पर जीवन अर्थ के लिए नहीं है। वह विकास के लिए है।

विकास के साधन हैं—मैत्री, शान्ति, समाधान, आनन्द, संयम और सात्विक मनोभाव। घृणा, द्वेष, ईर्ष्या, क्रोध, हीन-भावना, असंयम और उत्तेजना के मनोभाव शरीर में भी सिकुड़न पैदा करते हैं, आत्मा को तो वे विकसित होने ही नहीं देते। आज के विश्व की मौलिक समस्या है, आत्म-विकास की कमी।

अणुव्रत-आन्दोलन उसी समस्या का समाधान देना चाहता है। आप मानें या न मानें पर यह बहुत सच है कि आध्यात्मिक जीवन का निर्माण होने पर पर्वत-सी समस्या राई बन जाती है और भौतिक जीवन की परिधि में राई-सी समस्या पर्वत-सी बन जाती है। निर्माण की पद्धति का चुनाव करने के लिए आप पूर्ण स्वतन्त्र हैं।

●

व्रत और विद्यार्थी

व्रत का अर्थ है—संवरण या ढांकना। जो संवृत होता है उसमें बाहर का प्रवेश नहीं होता। मकान पर छत होती है तो ऊपर से धूप नहीं आती। द्वार बन्द नहीं है तो हर कोई प्रवेश कर सकता है। खिड़कियां खुली हैं तो पवन और धूप दोनों आ सकते हैं। जिसका जीवन संवृत नहीं होता वहां आवश्यकता न होने पर भी बाहर से बहुत आ जाती है। वास्तव में मनुष्य अपने-आप में पूर्ण है। बाहर से उपादेय कुछ नहीं है। फिर भी वह दृष्टि-दोष और अज्ञानवश बाहर से लेने का प्रयत्न करता है। उसकी कोई सीमा नहीं है इसीलिए व्रतों की आवश्यकता होती है।

जिसकी हड्डियां जितनी अच्छी होती हैं वह उतना ही स्वस्थ होता है। इसी प्रकार जिसका मन जितना सन्तुलित होता है वह उतना ही स्वस्थ होता है। स्वस्थ व्यक्ति में बाहर का असर नहीं होता। वाटर-प्रूफ़ में पानी प्रवेश नहीं पाता। स्वस्थ न होने पर बाहरी वस्तु का तत्काल असर हो जाता है। उस बाहरी असर से बचने के लिए व्रतों की आवश्यकता है।

विद्यार्थी का जीवन नींव के समान है। नींव की कमज़ोरी मकान को ढाह देती है। कठिन परिस्थिति में भी वह स्थिर रहे इसलिए नींव की दृढ़ता आवश्यक है। ध्यान रहे, नींव में कहीं नकली चूना और मिट्टी न मिल जाए।

जीवन का आधार व्यक्ति की धारणा होती है। वह अपने रूढ़ विश्वासों के आधार पर चलता है। एक व्यक्ति का विश्वास है कि सुख से जीना चाहिए, चाहे जो भी हो। वह सुख के लिए अच्छा या बुरा सब कुछ कर सकता है, उसके लिए हेय कुछ नहीं रहता।

दूसरों का विश्वास है कि उत्तम जीवन जीना चाहिए। वह उसके लिए बुरा कार्य नहीं कर सकता। इसीलिए सबसे पहले अपनी मान्यता और विश्वास का परिमार्जन करना आवश्यक है।

●

लोकतन्त्र को चुनौती

आज भूख की समस्या बड़ी विकट है। पोषक खाद्य की बात दूर है। लाखों लोगों को अपोषक खाद्य भी बड़ी कठिनाई से मिल रहा है। पेट भरा हो तो आदमी और हजार कठिनाइयों को झेल लेता है पर जब वही खाली हो तो आदमी की सारी सहिष्णुता नष्ट हो जाती है। भूखा आदमी वह सब कुछ कर सकता है, जिसकी भरपेट भोजन मिलने पर कल्पना नहीं कर सकता। आज हिन्दुस्तान दो धाराओं के बीच में से गुजर रहा है। एक ओर वह जनतन्त्र को विकसित करने का प्रयत्न कर रहा है, दूसरी ओर खाद्य की समस्या उसे तानाशाही की ओर धकेल रही है। राज्य-अधिकारियों और व्यापारियों के लिए यह चुनाव का समय है। अब उन्हें साफ़-साफ़ निर्णय करना है कि वे क्या चाहते हैं—जनतन्त्र या तानाशाही? यदि वे जनतन्त्र को पसन्द करते हैं तो उसे कमज़ोर बनाने का प्रयत्न न करें। रिश्वत लेने, अनाज को जमा कर रखने व अनुचित लाभ कमाने की प्रवृत्ति से जनतन्त्र कमज़ोर बनता है। भूखी जनता रिश्वत लेने व अनुचित लाभ कमाने वालों के प्रति क्रान्ति-बिगुल बजा देती है। फिर क़ानून का स्थान गोली ले लेती है। क्या आप चाहते हैं कि आपकी पुण्य-भूमि में ऐसा हो? मैं सोचता हूं कि आप ऐसा कभी नहीं चाहते। आपको अपनी हज़ारों वर्ष पुरानी संस्कृति से प्यार है। आप अपने अवतारों और ऋषियों का सम्मान करते हैं। आप अपने ऊंचे-ऊंचे दार्शनिक विचारों और धार्मिक सिद्धान्तों को शिरोधार्य करते हैं। त्याग-तपस्या की परम्परा के सामने अपना सिर झुकाते हैं। अहिंसा और अपरिग्रह को उत्कृष्ट धर्म मानते हैं। आप मानते हैं कि सब जीव समान हैं। आप मानते हैं कि सब जीव एक ही परमात्मा के अंश हैं। इतनी गहरी धर्म-निष्ठा, दार्शनिक आस्था, समानता या एकता की मान्यता को रखते हुए क्या आप पसन्द करेंगे कि आपकी मातृभूमि केवल रोटी के दर्शन की

प्रयोग-भूमि बन जाए ? मैं अपनी आन्तरिक आस्था के साथ कहता हूं कि आप ऐसा नहीं चाहते। आप अपनी सांस्कृतिक, धार्मिक व दार्शनिक परम्परा को सुरक्षित रखना चाहते हैं। आप असामाजिक कार्य इसलिए नहीं कर रहे हैं कि आपकी हजारों वर्ष पुरानी परम्पराएं खत्म हो जाएं। किन्तु आप ये कार्य इसलिए कर रहे हैं कि आपका मन मोह से भर गया है। आपको अपनी सुविधाओं के लिए दूसरों की सुविधाओं का होम करने में कोई संकोच नहीं है। धन पाने के लिए कर्तव्य और अकर्तव्य का कोई प्रश्न नहीं है। उस मोह का परिणाम आप पर यह हो रहा है कि वे भूखों मर रहे हैं। क्या भूख और विलास का योग बहुत समय तक टिक सकेगा ? शासन-तन्त्र के अधिकारियों और व्यापारियों की साझेदारी में आज लोकतन्त्र को खुली चुनौती दी जा रही है। राज्य का अधिकारी-वर्ग भ्रष्ट न हो तो व्यापारी भ्रष्ट हो ही नहीं सकता और यदि व्यापारी-वर्ग भ्रष्ट न हो तो अधिकारी-वर्ग भ्रष्ट नहीं हो सकता। दोनों वर्गों की दुर्बलता भ्रष्टाचार को प्रबल बना रही है। इस साझे के व्यापार में लोक-तन्त्र की नींव हिलती जा रही है। जनता में रोष उफनता जा रहा है। इस परिस्थिति में उन दोनों वर्गों का लाभ इसी बात में है कि वे तात्कालिक लाभ के लिए दीर्घकालीन लाभ को और अल्प-लाभ के लिए प्रचुर लाभ को चुनौती न दें।

●

लोकतन्त्र को थामने वाले हाथ ?

छात्रों के उफनते हुए असंतोष ने लोकतन्त्र को चुनौती दी है, ठीक वैसे ही जैसे उफनता दूध अग्नि को चुनौती देता है। इस उफान का शमन किया जा सके तो दूध भी उबर सकता है और अग्नि भी ; अन्यथा दोनों का भला नहीं है।

इस उफान के नीचे एक ताप है। विषमता के ईंधन अब इतने प्रज्व-लित हो उठे हैं कि केवल दूध में जल की दो-चार बूंदें डालना पर्याप्त नहीं है। ईंधनों पर जल डालना भी आवश्यक हो गया है।

एक ज़माना था, जब कुछेक लोग शिक्षित होते थे। शिक्षित लोग अशिक्षित जनता पर शासन किया करते थे। आज का ज़माना उससे भिन्न है। आज हर व्यक्ति को शिक्षित होने की सुविधा है। शिक्षित जनता अशिक्षित जनता की भाँति शासन या जीवन-पद्धति को स्वीकार नहीं कर सकती। विषमता प्राचीन काल में थी। पर वह असह्य नहीं थी। उस समय का अभिजात वर्ग ऐश्वर्य को अपने कर्म का फल मानता था तो निम्न वर्ग ग़रीबी को अपने कर्म का फल मानता था। दोनों के अपने-अपने मूल्य थे। इसलिए असंतोष नहीं था।

वर्तमान में भी दो वर्ग हैं पर उनके सामने अपना-अपना निश्चित मूल्य नहीं है। इस मूल्य-हीनता की स्थिति में से ही असंतोष उफन रहा है। लोकतन्त्र की आत्मा धूमिल हो रही है।

जिस दिन लोकतन्त्र के मूल्य स्थापित और स्थिर हो जाएँगे, उसी दिन वास्तविक लोकतन्त्र का उदय होगा। अभी हिन्दुस्तान विकल्पसिद्ध (पूर्व-मान्यता सिद्ध) लोकतन्त्र की स्थिति में चल रहा है। केवल हिन्दुस्तान ही नहीं, दुनिया के सभी लोकतन्त्र इसी स्थिति में चल रहे हैं। वास्तविक लोकतन्त्र वह हो सकता है, जहाँ लोकतन्त्र का मूल्य व्यक्ति, व्यक्ति का मूल्य स्वतन्त्रता और स्वतन्त्रता का मूल्य समानता हो।

आधुनिक युग का चिन्तन लोकतन्त्र की दिशा में प्रवाहित नहीं हो रहा है। परिस्थिति के परिवर्तन पर अतिरिक्त बल दिया जा रहा है। व्यक्ति-परिवर्तन का विचार उसके सामने अकिंचन-सा हो गया। लोकतन्त्र की दिशा यह है कि व्यक्ति के पीछे परिस्थिति बदले, परिस्थिति के पीछे व्यक्ति बदले, यह परतन्त्रता अर्थात् अधिनायकतन्त्र की दिशा है। वर्तमान युग इसी दिशा-बोध से प्रवाहित है, इसीलिए आज आदमी उतना नहीं बदला, जितनी परिस्थितियाँ बदली हैं। आधुनिक मनुष्य जा रहा है अधिनायकतन्त्र की ओर और जाने की बात कर रहा है लोकतन्त्र की ओर। यह अन्तर्विरोध इस युग की सबसे बड़ी दुर्घटना है।

मतदान की पद्धति, मतदान और बहुमत प्राप्त दल का सत्तारूढ़ होना —यदि यही लोकतन्त्र हो तो इसका अभिनय कहीं भी किया जा सकता है। यह मात्र उसकी परिधि है। उसका केन्द्र है व्यक्ति, जिसे परिस्थिति-परिवर्तन में स्रष्टा की भूमिका प्राप्त है। आज आदमी-आदमी में कितना भेदभाव है। नीग्रो लोगों के प्रति अमेरिकनों के मन में, अफ्रीकियों के प्रति गोरों के मन में तथा हरिजनों के प्रति सवर्ण हिन्दुओं के मन में समानता का भाव नहीं है। अभिजात वर्ग के मन में ग़रीबों के प्रति सहानुभूति का भाव नहीं है। अभाव-पीड़ित लोगों के प्रति सम्पन्न लोगों के मन में सहयोग का भाव नहीं है। मानवीय एकता बाहरी आवर्णों से आवृत है और उसकी पहचान भी सुलभ नहीं है। इस स्थिति में चुनाव की प्रक्रिया समारोपित प्रक्रिया है। इसे व्यक्ति की स्वतन्त्र चेतना द्वारा स्वीकृत प्रक्रिया नहीं कहा जा सकता।

जिस व्यक्ति के मन में लोकतन्त्र की पहली किरण फूटी, वह बन्धन के परिणामों को भुगतकर मुक्ति पाना चाहता था।

जिस व्यक्ति के मन में लोकतन्त्र की पहली धार बही, वह हिंसा के परिणामों का अनुभव कर अहिंसा की प्रतिष्ठापना करना चाहता था।

मुक्ति और अहिंसा इन दो रासायनिक द्रव्यों के घोल का नाम ही लोकतन्त्र है। इसलिए वह स्वतन्त्रता और समानता के दर्पण में अपने-आपको प्रतिबिम्बित करना चाहता है।

इस सचाई को हम आज समझें या अगली पीढ़ी के लिए छोड़ दें, कि

बन्धनों का जाल बिछा और विषमता का व्यूह रचकर लोकतन्त्र की स्थापना नहीं की जा सकती। और बहुत वर्षों तक चुनाव से सींच-सींचकर उसकी पौध को जीवित नहीं रखा जा सकता।

केवल वे ही हाथ लोकतन्त्र के बुझते दीप में प्राण भर सकते हैं, जो अपनी पतंग की डोर अपने-आप थामे हुए हैं, और जो स्वतन्त्रता की पवित्र वेदी पर समानता की प्रतिष्ठा करने को प्राणपण से जुटे हुए हैं।

क्या चौथे चुनाव में बहुमत से विजय की याचना करने वाले हाथ इस शंख-ध्वनि को अपनी पवित्र अंगुलियों में थामेंगे ?

जीवन-स्तर में परिवर्तन की अपेक्षा

अनुकरण मानवीय जीवन का मुख्य अंग है। यह मनोवृत्ति बचपन में ही नहीं होती, बुढ़ापे में भी होती है। एक आदमी दूसरे आदमी का अनुकरण करता है और विशेषतः उसका करता है, जो बड़ा माना जाता है।

बड़ा बनने की चाह प्रायः सबमें होती है। इसलिए साधारण आदमी वही करना चाहता है, जो बड़े लोग करते हैं और वैसे ही रहना चाहता है, जैसे बड़े लोग रहते हैं।

प्राचीन काल में राजे लोग सबसे बड़े होते थे। वे वैभवपूर्ण वातावरण में रहते थे और वैसे ही वातावरण का समर्थन करते थे। वे आर्थिक विषमता से चिन्तित नहीं थे। समानता में उनका विश्वास नहीं था। वे जन-साधारण को त्याग, संयम और सादगी से रहने की सलाह देने का अधिकार भी नहीं लेते थे।

आज के समय में सबसे बड़े शासक-वर्ग के लोग हैं। उनकी कठिनाई यह है कि वे वैभवपूर्ण वातावरण का समर्थन नहीं करते, किन्तु उसमें रहते हैं। वे आर्थिक विषमता से चिन्तित हैं किन्तु विषमता से मुक्त होने को चिन्तित नहीं हैं। वे समानता में अपनी आस्था प्रकट करते हैं, किन्तु उनकी स्थिति में वे नहीं हैं। वे अति सम्पन्न जीवन जीते हैं और जन-साधारण को त्याग, संयम और सादगी में रहने की सलाह देने का अपना अधिकार भी सुरक्षित रखते हैं।

महामंत्री कौटिल्य ने बहुत बड़े साम्राज्य का संगठन और संचालन किया। किन्तु उनकी निजी सम्पदा बहुत स्वल्प थी। विशाखदत्त ने उनकी कुटिया का वर्णन इन शब्दों में किया है :

उपल-शकल मेतद् भेदकं गोमयानां।
वटुभि रुपहृतानां बर्हिषां स्तोम एषः॥

शरणमपि समिद्भि शुष्यमाणामि रामि।
रूपात पटलानां दृश्यते जीर्ण कुड्यम्॥

इस तृण-कुटीर की उपकरण-सामग्री वर्तमान वैभव की तुलना में नगण्य है। इतनी नगण्य मात्र कि उतनी सामग्री का वर्तमान युग में कोई अर्थ ही नहीं, इसलिए आज उसे आदर्श रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। किन्तु इसका बहुत अर्थ है कि जन-सेवक का वातावरण शाही सम्पदा सरीखा न हो। समाजवादी व्यवस्था के कर्णधार वे लोग नहीं हो सकते, जो अपने परिवार को उतनी सुविधा देना चाहें, जितनी एक उद्योग-पति दे सकता है।

समाजवादी व्यवस्था के शासक यह चाहते हैं कि जीवन-स्तर में असाधारण विषमता न हो। क्या वे अपने जीवन-स्तर को जन-साधारण के जीवन-स्तर के आस-पास लाए बिना ऐसा कर सकेंगे? यह बहुत स्पष्ट है कि शाही ठाट-बाट से रहने वाले लोग समाजवादी व्यवस्था की बात कहकर जनता को भुलावे में डाल सकते हैं, उसे ला नहीं सकते।

भारतीय संस्कृति में संयम और सादगी के तत्त्व बहुत समर्थित रहे हैं। वे पुराने हो सकते हैं पर अवैज्ञानिक नहीं हैं। वैज्ञानिक तत्त्व पुराना होकर भी नित नया रहता है। विसर्जन, त्याग, संयम और सादगी, ये समाजवादी व्यवस्था के भी प्राण हैं और आध्यात्मिक तो हैं ही। मुझे आशा है भारतीय लोग भारतीय आत्मा की अवहेलना नहीं करेंगे।

●

संयमः खलु जीवनम्

किसी भी वस्तु का निरपेक्ष मूल्य नहीं होता। संयम स्वयं मूल्य है। आत्मा का जो स्वभाव है, अनात्मा से आत्मा की जो दूरी है, वह संयम है। जितना सहज उतना संयम। जो कुछ असहज है वह असंयम है। चेतना, देह और प्राणों का जो संजोग है वह जीवन है। जीवन सहज नहीं है। उससे मुक्त होकर आत्मा को सहज में ले जाने का कोई विकल्प नहीं है। इसलिए मुमुक्षु व्यक्ति जीवन को सहजाभिमुख बनाता है। सहजता देह-मुक्ति के बाद आती है। जब तक देह है, सहजता कहां ? असहज में रहते हुए भी व्यक्ति सहज के निकट जितना जाता है, उतना संयम है। असहज दशा में संयम साधन है और सहजता आते ही वह स्वभाव बन जाता है।

आत्मा अपने-आप में परिपूर्ण है। उसके लिए उपादेय कुछ भी नहीं है। यह अनुपादेयता उसका सहज है, संयम है। हेय लगा रहता है तब तक उपादेय भी होता है। इस दशा का उपादेय साध्य नहीं होता, साधन होता है। सच तो यह है कि साधन और साध्य दो नहीं होते। साधनाकाल में जो साधन होता है, वह सिद्धिकाल में स्वभाव हो जाता है। स्वभाव के अतिरिक्त और साध्य क्या है ? जिसका जो स्वभाव है, वही साध्य है और स्वभावोन्मुखता ही उसका साधन है। गति विवेक की ओर हो तब स्वभाव कैसे उदित होगा ? आत्मा का स्वभाव विशुद्ध चैतन्य है। वह अज्ञान से आवृत और मोह से मूढ़ है। मूढ़ता में संयम कैसे होगा ? वह जितनी क्षीण होती है उतना ही संयम प्रकट होता है। संयम कोई परिधि नहीं है, वह अपनी गति और अपना विकास है।

जीवन और क्या है ? देह और प्राणों की चेतना के साथ जो समन्विति है वही तो है। जो जीया जाता है वही जीवन नहीं है। जिससे जीया जाता है, वही जीवन है। खाए बिना कोई नहीं जीता यह जितना सत्य है, उससे कहीं अधिक सत्य यह है कि खाने में संयम रखे बिना कोई नहीं जीता। संयम जीवन ही नहीं किन्तु जीवन का भी जीवन है। ●

वासना की उच्छृंखलता असामाजिक

व्यक्ति का जीवन जिन तथ्यों से प्रभावित होता है, उनमें दो तथ्य मुख्य हैं—रूप और शब्द। इसी आधार पर साहित्य के आचार्यों ने काव्य के दो प्रकारों की स्थापना की :

१. दृश्य-काव्य

२. श्रव्य-काव्य

श्रव्य-काव्य की अपेक्षा दृश्य-काव्य व्यक्ति को अधिक प्रभावित करता है। व्यक्ति में अनेक वृत्तियां होती हैं। बाहरी वातावरण से उद्बुद्ध हो, वे तन्मय बन जाती हैं। इसीलिए व्यक्ति वातावरण के अनुरूप ढलता है।

काव्य-जगत् में दो रस प्रधान माने जाते हैं : शृंगार और वीर।

जिन कवियों ने चाहा, काव्य सरस हो, उन्होंने अपने काव्य को या तो शृंगार-रस-प्रधान बनाया या वीर-रस-प्रधान। आज के चलचित्र ही शृंगार-प्रधान हैं, ऐसी बात नहीं है किन्तु अनेक प्राचीन काव्य भी शृंगार रस से भरे पड़े हैं।

आज की समस्या

प्राचीन काल में श्रव्य-काव्य विद्वद् गोष्ठियों में ही चलते थे। दृश्य-काव्य (नाटक) जन-साधारण तक पहुंचते थे पर बहुत कम मात्रा में। आज की समस्या यह है कि हर व्यक्ति पढ़ता है और हर व्यक्ति चलचित्र देखता है।

पुराने जमाने में व्यक्ति को शृंगार के साथ-साथ रस की अनुभूति का भी अवसर मिलता था। आध्यात्मिक वातावरण भी प्राप्त था। आज की समस्या यह है कि व्यक्ति के आस-पास आध्यात्मिक वातावरण नहीं है। उसे शान्त रस की अनुभूति के प्रति कोई आकर्षण नहीं है। इसलिए आज कामुकता का वातावरण व्यक्ति को निरंकुश रूप में प्रभावित कर सकता है।

कामैषणा की उच्छृंखलता और प्रभाव

कामैषणा सामाजिक व्यक्ति के लिए स्वाभाविक मानी गई है। इसी-लिए समाजशास्त्रियों ने उसका समर्थन किया है किन्तु उन्होंने उसके उच्छृङ्खल रूप का समर्थन नहीं किया। आज के विज्ञापन जगत् और चल-चित्र जगत् में उसका समर्थन मिल रहा है। यह मानवीय चेतना के स्वतंत्र विकास के लिए खतरा है। एक दिन कामाशक्ति के सामने शेष सब आकर्षणों के समाप्त होने की स्थिति आ सकती है।

ब्रह्मचर्य को पूर्ण अर्थ में भले ही सामाजिक लोग स्वीकार न कर सकें किन्तु उसकी बहुत बड़ी उपयोगिता को वे अस्वीकार नहीं कर सकते। अब्रह्मचर्य की उच्छृंखलता से व्यक्ति में मानसिक मन्दता और शारीरिक शिथिलता आती है। इसलिए उस उच्छृंखलता से बचाना केवल धार्मिक ही नहीं, राष्ट्रीय कर्तव्य भी है।

जो लोग व्यापारिक दृष्टि से देखते हैं, उनकी दृष्टि में काम-वृत्ति को उभारना बुरा नहीं है। उनका ध्येय होता है, जनता को अपनी प्रवृत्ति की ओर आकर्षित करना। काम-वृत्ति का आकर्षण सबसे प्रमुख है। इस-लिए वे उसी के अनुरूप सामग्री प्रस्तुत कर जनता का ध्यान अपनी प्रवृत्ति की ओर खींचते हैं। किन्तु हर प्रवृत्ति के अनेक पहलू होते हैं। राष्ट्रीय चरित्र की दृष्टि से देखा जाय तो यह कार्य प्रशंसनीय नहीं है।

मध्यम मार्ग

अश्लील चलचित्र, पोस्टर और विज्ञापन के विरुद्ध अनेक अभियान चलाए जा चुके हैं। उनका कोई परिणाम आया है, यह मुझे नहीं लगता। हम फिर अभियान चलाएँ और उसका कोई परिणाम आए, यह भी मुझे नहीं लगता।

शृंगार-प्रधान सामग्री प्रस्तुत करने वालों को अधिक सफलता मिलती है, अर्थार्जन अधिक होता है, इसलिए वे उसे क्यों रोकना चाहेंगे? जो उसे रोकना चाहते हैं, वे न तो वस्तुतः करने वालों में हैं और न ही देखने वालों में हैं। वे किसी तीसरी जाति में हैं। इसलिए वे दोनों उनकी बात सुनने को तैयार नहीं हैं। इस स्थिति में हम उस प्रवाह को रोक नहीं सकते।

तो हम क्या कर सकते हैं? उसके समानान्तर दूसरी धारा प्रवाहित

कर सकते हैं। वह है संयम की धारा। विलास के वातावरण में संयम की बात कौन सुनेगा ? यह संदेह हो सकता है किन्तु विलास की अपनी दुर्बलता है। वह जैसे-जैसे बढ़ता है, वैसे-वैसे मानसिक दुर्बलता पैदा करता है। उस स्थिति में संयम की बात लोगों को आकृष्ट करती है। हम इस बात से निराश न हों कि इस चलचित्र के युग में हमारी बात कौन सुनेगा ? मुझे लगता है कि आज ऐसी निराशा बढ़ रही है। इस गोष्ठी के आयोजन का उद्देश्य चलचित्र जगत् को प्रभावित करना नहीं है किन्तु नैतिकता में विश्वास रखने वाले लोगों में व्याप्त निराशा को तोड़ना है। हमें यह आत्म-विश्वास होना चाहिए कि हमारी बात में सचाई है। विलास की उच्छृंखलता से मानवीय विकास अवरुद्ध होता है, इस सचाई पर कोई आवरण नहीं डाल सकता। हमारी बातों में प्राथमिक आकर्षण उतना नहीं है, जितना कि चल-चित्र द्वारा प्रस्तुत इन्द्रिय-तृप्ति की सामग्री में है, किन्तु अन्तिम आकर्षण हमारी बात में अधिक है इसलिए दृढ़ आत्म-विश्वास के साथ हमें इस बात पर बल देना चाहिए कि विलास की उच्छृंखलता से मनुष्य-जाति का पतन होता है, इसलिए विलास को उच्छृंखल बनाने वाली सामग्री प्रस्तुत करने वाले लोग जरा गहराई से सोचें और वे लोग भी सोचें जो अपनी इन्द्रिय-तृप्ति के भावावेश में आकर उसे प्रोत्साहन दे रहे हैं।

आज बालक-बालिकाओं को केवल विलास की सामग्री प्राप्त हो रही है। यदि उसके साथ-साथ संयम-विकास की सामग्री मिले तो उनके मन पर विलास का एकाधिकार प्रभाव नहीं हो सकता। इस गोष्ठी के द्वारा हम जनता के सम्मुख यह निष्कर्ष प्रस्तुत करें कि वह अपने बालक-बालिकाओं को संयम व नैतिकता का शिक्षण दे। अब्रह्मचर्य के उच्छृंखल परिणामों से परिचित कराएं और त्यागपूर्ण जीवन का महत्त्व समझाएं। यदि सम्भव हो तो चलचित्र जगत् पर भी यह प्रभाव डालें कि समय-समय पर उस मंच से भी संतुलित जीवन का स्वर प्रसारित हो। एकान्त ब्रह्मचर्य की बात समाज को मान्य नहीं हो सकती तो अब्रह्मचर्य की उच्छृंखलता भी उसे मान्य नहीं होनी चाहिए। इस प्रकार संतुलित दृष्टिकोण अपनाकर ही वह स्वस्थ रह सकेगा, वासना की उच्छृंखलता को प्रोत्साहन देकर कभी नहीं।

●